

अद्वैत वेदान्त

और

बौद्ध दर्शन

उमेश प्रसाद राय

वे

अद्वैत वेदान्त और बौद्ध दर्शन

लेखक:-

उमेश प्रसाद राय एम० ए०

संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

नेशनल प्रकाशन, बक्सर

मूल्य: २०/-



--: विवरणिका :--

आत्म-निवेदन

भारत वर्ष की ऐतिहासिक परम्परा का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि दर्शन यहाँ का मुख्य क्षेत्र रहा है। जिज्ञासा प्रधान विषय होने के कारण प्रत्येक युग में नए-नए विषय भारतीय मनीषियों के सम्मुख होते रहे और उनका विश्लेषण उन्होंने अपने अनुभव, चिन्तन, मनन आदि के आधार पर किया है। भारतीय दर्शनों की दो प्रमुख विचार-धारायें देखने को मिलती हैं। एक सुधारवादी तथा दूसरी अत्यन्त परिवर्तनवादी। सुधारवादी परम्परा मूल को सदा अपना आधार बनाये हुए चलती है तथा वर्तमान के साथ भूत का एवं भविष्य का सामञ्जस्य बनाये रखने में अपना विश्वास रखती है। यद्यपि इस विन्दु पर परम्परावादी विज्ञान पूर्णतया सहमत नहीं हो पाते, परन्तु व्यवहार कीं अपयमिता बार-बार सुधार के लिए प्रेरणा देती ही है।

भारत में उद्भूत दर्शन की विभिन्न शाखाओं और उनके सिद्धान्तों पर अनेक मनीषियों ने विभिन्न भाषओं में अपने ग्रन्थ प्रस्तुत किए हैं: अब भी लिखे जा रहे हैं। फिर भी पाठकों की जिज्ञासा शान्त नहीं प्रतीत होतीं हैं। अब तक के जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं वे प्राचीन परम्परा का अनुगमन ही करते हैं। उनमें आधुनिक सन्दर्भों से समायोजन का अभाव सा दीख पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक 'अद्वैत वेदान्त और बौद्ध दर्शन', जिज्ञासुओं की इस नूतन अभिलाषा को ध्यान में रखकर ही लिखी गयी है। इस पुस्तक में अद्वैत वेदान्त ओर बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का ही विवेचन किया गया है तथा इन दोनों का आधुनिक भारतीय समाज एवं उसकी समस्याओं के निदान में क्या योगदान हो सकता है, इसको स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय दर्शन विशेषकर अद्वैत वेदान्त और बौद्ध दर्शन जीवन और जगत् के प्रति एक सक्षम और सही दृष्टिकोण देता है जिसके द्वारा हमारा व्यक्तिगत जीवन क्रोध, राग-द्वेष मुक्त होकर स्वास्थ्य, शान्ति एवं आनन्द का वाहक

बन सकता है और हम संकुचित एवं व्यक्तिगत जीवनसे ऊपर उठकर सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर सकते हैं तथा हमारा पशुत्व परिमार्जित एवं परिशोधित होकर मानवीय बन सकता है। राग, द्वेषादि क्लेशों से मुक्ति मिल सकती है। स्वार्थ और परार्थ का विरोध समाप्त हो सकता है तथा सच्ची मानवता की उपलब्धि हो सकती है। शोषण, अन्याय, अत्याचार, हिंसा प्रति हिंसा आदि से मुक्त होकर व्यक्ति के मन एवं बुद्धि निर्मल एवं निश्चल होकर देवत्व की उपलब्धि के योग बन सकता है।

स्पेन्सर की स्वर्गराज्य की कल्पना, कॉमटे की मानवता की पूजा की कल्पना तथा मार्क्स के शोषण-विहिन एवं वर्गविहीन समाज की कल्पना इत्यादि हमें सच्ची मानवता की उपलब्धि के लिए प्रेरणा देते हैं, किन्तु ये आधे रास्ते तक ही मानव को पहुँचाकर छोड़ देते हैं क्योंकि उनकी पहुँच अध्यात्म तक नहीं है। अध्यात्म को ठीक से समझने का प्रयास इन विचारकों ने नहीं किया है। फिर भी इनके विचारों ने मानवता की जितनी सेवा की है उनके लिए मानव जाति सदैव इनकी ऋणी रहेगी और ये विचारक हमारे लिए वंदनीय रहेंगे। यदि ये भारत में पैदा हुए होते तो इनको ऋषि की संज्ञा दी गई होती।

किन्तु, मानव केवल मानव-गुणों की उपलब्धि तक ही सीमित नहीं रह सकता। उसके भीतर असीम, अनन्त एवं निरपेक्ष को जानने की एवं पाने की जिज्ञासा एवं पुरुपार्थ निहित है। इस सत्य को महात्मा गाँधी ने पहचाना और इसे अपने जीवन का अंग बनाया। इसीलिए वे महात्मा कहलाये और उनका राम- राज्य का आदर्श एक आध्यात्मिक राज्य की कल्पना है। इस जिज्ञासा का प्रकाशन आदि काल से विकसित दार्शनिक मत-मतान्तरों में तथा पुरुषार्थ का प्रकाशन युग युगों से ऋषियों, मुनियों, संत तथा महात्माओं की तपस्या साधना एवं उनकी दैवीय चरित्र की उपलब्धियों में हुआ है। उनके विचार और उनके दैवीय चरित्र में उपलब्ध देवत्व दोनों से आध्यात्मिकता की सिद्धि हुई है। ऋषियों, मुनियों एवं संत-महात्माओं के विचार वैभिन्य से आध्यात्मिकता को कोई आँच नहीं आती क्योंकि यह वैभिन्य उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों को उनके दृष्टि कोण से अभिव्यक्त करता है। यही दृष्टिकोण उनका

दर्शन है और आज के इस बुद्धि-प्रधान युग में भी बुद्ध एवं शंकर के दार्शनिक विचारों से जो जीवन और जगत् को देखने का दृष्टि कोण प्राप्त होता है वही मानवता की रक्षा एवं उसकी समस्याओं का निराकरण करने में समर्थ है। हाईड्रोजन एवं अणुबम, कीटाणु-युद्ध, अन्तरिक्ष युद्ध के भय से सारी मानवता त्रस्त है। अन्तरिक्ष पर वर्चस्व स्थापित करने की राजनैतिक शक्तियों की होड़ ने मानवता के विनाश ~~विकास~~ को और समीप ला दिया है।

ऐसे अवसर पर बुद्ध एवं शंकर के विचारों की महत्ता और अधिक है। ये विचार अन्य दार्शनिक विचारों से अधिक तर्क संगत एवं बुद्धि संगत है जो आज के बुद्धिवादी युग को संतुष्ट रखने की क्षमता रखते हैं। विज्ञान की आधुनिकतम खोजों से भी इनकी नींव को कोई आघात् नहीं पहुँचा है. यह विज्ञान की खोजों से ही सिद्ध है। प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री डा० आइंस्टीन तथा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग के विचारों को बुद्ध एवं शंकर के 'मिथ्या' के सिद्धान्त के प्रभाव में देखा जा सकता है। इनवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि जगत् की यथार्थता का ज्ञान विज्ञान द्वारा संभव नहीं है।

Einstein Says:- In our endeavour to understand reality we are somewhat like a man trying to understand the me: chanism of a closed watch. He sees the face and the movi: ng hands, even hears its ticking, but he has no wayof opening the case If he is ingenious he may form some picture of a mechanism which could be responsible for all the things, he observes, but he may never be quite sure his picture is the onlyone which could explain his observations. He will never be able to compare his picture with the real mechanism and he cannot even emagine the possiblity or the meaning of such a comparison.

Jung says:- The statistical method shows the facts in the light of the detail average but does not give us a pi-

cture of their empirical reality while reflecting on indisputable aspect of reality It can falsify the actual truth in a most misleading way.

(Einstein quoted by S. N. Das GuPta in his article 'The limitations of Science and the inevitableness of Religion. in the book Radha krishnan comparative study in philoso phy.

And second :- The undiscovered self Jung P. 17

सम्पूर्ण पुस्तक को सात निबन्धों में बाँटकर प्रस्तुत किया गया है। प्रथम निबन्ध [अध्याय] भारतीय दर्शन के स्वरूप को उद्देश्य कर लिखा गया है। इस निबन्ध में भारतीय दर्शनों का परिचय, उनका वर्गीकरण एवं मूलभूत सिद्धान्तों का सामान्य परिचय प्ररतुत किया गया है। इसके साथ ही भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त इतिहास, प्रमुख दार्शनिक एवं उनके साहित्य आदि का भी इस निबन्ध में समावेश किया गया है।

द्वितीय निबन्ध में ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय अद्वैत वेदान्त के विषय में ऐतिहासिक परिचय, उद्भव, प्रारम्भिक विकास, उत्तरकालीन विकास, प्रमुख आचार्य और उनकी रचनायें आदि का निरूपण किया गया है।

ग्रन्थ के तृतीय निबन्ध में अद्वैत वेदान्त के प्रतिपाद्य मूलभूत विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस निबन्ध में अन्य मतों के खण्डन के साथ ही ब्रह्मसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों का सामान्य परिचय भी दिया गया है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र का संक्षिप्त विषय-वस्तु विवरण भी इस निबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ निबन्ध में अध्यारोप एवं अपवाद विधि से अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि, वेदान्त सार एवं ब्रह्मसूत्र-शंकर-भाष्य दोनों के आधार पर करने का प्रयास किया गया है। पंचम अध्याय में बौद्धवाद के उद्भव, विकास एवं बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों, सम्प्रदायों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसी निबन्ध में बौद्ध मत के चारों सम्प्रदायों एवं उनके दार्शनिक विचारों का भी

परिचय दिया गया है। षष्ठ निबन्ध में बौद्ध दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त का परस्पर समन्वयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस निबन्ध में दोनों मतों में कहाँ तक साम्य है और कितना वैषम्य है इसे स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए अन्त में दोनों के समन्वय से आधुनिक सन्दर्भ में क्या लाभ हो सकता है, इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

अन्तिम निबन्ध ग्रन्थ का उपसंहार स्वरूप है। इस निबन्ध में आधुनिक सन्दर्भ में दर्शनों का योगदान एवं उनकी भूमिका पर विचार किया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश एक संक्रमण काल से गुजर रहा है। विकास की नई नई दिशायें अनावृत्त हो रही हैं। ऐसी दशा में प्राचीन दर्शनों का क्या महत्व एवं योगदान हो सकता है, इसे आँकने का प्रयास इस लघु निबन्धमें किया गया है। यह युग महात्मा गाँधी के विचारों पर चल रहा है। अत: गाँधी जी के दार्शनिक विचारों, मान्यताओं को भी इस निबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

ग्रन्थ को प्रस्तुत करने में 'ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य' का हिन्दी अनुवाद [स्वामी हनुमान दास षठशास्त्री] 'वेदान्तसूत्र' या 'वेदान्त दर्शन' [श्री हरिकृष्णदास गोयनका] 'ब्रह्मसूत्र प्रवचन' [स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती], सर्वदर्शन संग्रह [माध्वाचार्य], 'भारतीय दर्शन' [पद्म भूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय], एवं डा० रामकृष्ण आचार्य प्रभृति विद्वानों के ग्रन्थों का आश्रय लिया गया है। इन ग्रन्थों के आलोड़न से ही इस लघु पुस्तक का निर्माण संभव हो सका है, इसलिए लेखक इन आचार्यों का आभारी है। पुस्तक के लेखन-कार्य में जिन सहृदय गुरुजनों का प्रेम एवं सौहर्द्र जनक आशीर्वाद प्राप्त हुआ है उनके प्रति भी लेखक आभार प्रकट करता है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखन-कार्य में दिशा- निर्देश एवं समय-समय पर सुझाव के रूप में वाराणसी के श्री नेपाली संस्कृत महाविद्यालय के संस्कृत साहित्य सह विभागाध्यक्ष आचार्य त्रिभुवन मिश्र का जो योगदान मिलता रहा है उसके लिए लेखक उनका ऋणी है। पुस्तक के मुद्रण-कार्य में जिन सहृदयों ने अपना योगदान प्रस्तुत किया है वे भी धन्यवादार्ह हैं।

अन्त में सुधी पाठकों से निवेदन है कि इस लघु पुस्तक में अनेक त्रुटियाँ सम्भव हैं क्योंकि कोई भी पूर्ण विज्ञ नहीं हो सकता है। मनुष्य भूल का आलय है, अतएव विज्ञ पाठक नीर-क्षीर-विवेक न्याय से इस लघु पुस्तक का मूल्यां—कन करेंगे और इसकी त्रुटियों की ओर लेखक का ध्यान निःसंकोच भाव से आकर्षित करेंगे, इसी आशा एवं विश्वास के साथ मेरी यह लघु कृति सुविज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। यदि यह पुस्तक पाठकों के मन को कुछ भी सन्तोष प्रदान करती है तो वही लेखक का पारश्रमिक होगा और लेखक का उत्साह आगे भी पाठकों की सेवा के लिए उन्नत होगा।

उमेश प्रसाद राय

मकर संक्रान्ति
संवत्— २०४२
१४ जनवरी १९८६
वाराणसी

भारतीय दर्शन का स्वरूप

दर्शन शब्द संस्कृत के दृश् धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ देखना, विचारना और श्रद्धा करना होता है। आदि काल से ही मानव ने सभ्यता के विकास के साथ जीवन को अत्यन्त निकट से देखने और समझने का प्रयास किया है। वस्तुत: जीवन के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण ही दर्शन है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न होता है। मनुष्य अपने परिवेश को समझने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। अपने आस पास और सम्पर्क में आने वाले पदार्थों का उनके जीवन से क्या सम्बन्ध है उस सम्बन्ध का निरुपण कौन करता है, उसे जानने के क्या साधन हैं इत्यादि कितनी ऐसी शंकायें हैं जिन्हें प्रतिक्षण मनुष्य चिन्तन करता रहता है। दर्शन का आविर्भाव उसी चिन्तन से होता है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए विभिन्न दर्शनों में विद्वानों ने अनेक साधन बताये हैं, किन्तु सब से निश्चित और विश्वसनीय उपाय प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय भेद के अनुसार प्रत्यक्ष के पाँच भेद कहे गये हैं किन्तु उन सब में चाक्षुष प्रत्यक्ष का विशेष महत्व है। यद्यपि इस प्रमाण पर भी ऐक्य नहीं है क्योंकि बौद्धिक या आध्यात्मिक जगत् के ऐसे बहुत से तत्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं जिनका दर्शन या ज्ञान स्थूल इन्द्रियों द्वारा सम्भव नहीं है। प्राय: सभी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि जिस जगत् का हमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होता है वह आभास मात्र है जगत् का सत् रुप स्थूल इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रमाण का दर्शन में कोई महत्व नहीं क्योंकि भारत में स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के दर्शन प्रचलित हैं, स्थूल दृष्टि से विचार करने वाले चार्वाक, न्याय और वैशेषिक दर्शनों का भी अपना महत्व है जिनका विवेचन अवसर आने पर किया जाएगा। सूक्ष्म दृष्टि से बिचार करने वाले सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शन हैं। सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान करने के लिए प्रज्ञा-चक्षु या ज्ञान-चक्षु की आवश्यकता होती है। बहुत बड़ी तपस्या,

साधना या भगवत्कृपा से ही इस ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन होता है। एक बार चक्षु उन्मीलन हो जाने पर सभी सूक्ष्म पदार्थ हस्तामलकवत् दिखाई देने लगते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि भारतीय दर्शन दुख की आधार शिला पर प्रतिष्ठित है। प्रायः सभी दर्शन दुख निवृत्ति के निमित्त उपाय अन्वेषण में लगे हुए हैं। संसार के सभी प्राणी त्रिविधात्मक दुखों से ग्रस्त हैं। प्रत्येक प्राणी की यह हार्दिक इच्छा होती है कि वह दुख से मुक्ति एवं सुख की प्राप्ति करे। दुख का निवारण कैसे हो और सुख की प्राप्ति कैसे हो इसको जानने से पूर्व भारतीय दर्शन उनके स्वरूप को जानना और निश्चित करना परम आवश्यक मानता है क्योंकि कोई भी वैद्य रोगी की चिकित्सा रोग को बिना जाने नहीं कर सकता। सबसे कठिन सुख का निर्णय करना है क्योंकि सुख की एक निश्चित परिभाषा देनी सम्भव नहीं होती। जो वस्तु एक के लिए सुखद है वही दूसरे के लिए सुखद नहीं होती। दर्शनों का लक्ष्य है कि किसी भी उपाय से सर्वमान्यएवं सर्वोच्च सुख प्राप्ति का उपाय अन्वेषण करें जो साथ ही दुख निवारण करने में भी समर्थ हो। सांसारिक दुखों को बन्धन और उनके निवृत्ति को दर्शन की भाषा में मोक्ष कहा जाता है। बन्धन और मोक्ष के उपायों के विश्लेषण मेंप्रत्येक दर्शन में मतभेद है।

इस प्रकार हम देखते कि भारतीय दर्शन में दर्शन शब्द का प्रयोग न केवल तत्व ज्ञान या तत्व साक्षात्कार के लिए ही हुआ है, अपितु जिन साधनों के द्वारा यह संभव है उनके लिए भी दर्शन शब्द का प्रयोग किया गया है। आत्म साक्षात्कार के लिए उपनिषदों में तीन मार्ग बताये गये हैं जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद के "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" वचन से प्रतीत होता है। विभिन्न दर्शनों ने इन तीन उपायों को अपने-अपने मत के अनुसार ग्रहण किया है। बौद्ध दर्शन चार आर्य सत्यों के द्वारा गृहीत ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानता है। न्याय दर्शन पदार्थों के साक्षात्कार को मोक्ष का साधन मानता है। वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक शंकराचार्य आत्म-ज्ञान को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। स्थूल दर्शनवादी चार्वाक के मत में देह का नष्ट

हो जाना ही मोक्ष है। अन्य मोक्ष के प्रश्न को बहुत दूर तक खींचते हुए पुनर्जन्मवाद तक ले जाते हैं। उनका कहना कि इस संसार में आवागमन का क्रम जबतक चलता रहेगा तबतक मोक्ष संभव नहीं क्योंकि मोक्ष हो जाने के बाद प्राणी न तो जन्म लेता है न ही उसकी मृत्यु होती है।

यद्यपि पाश्चात्य देशों में भी दर्शन का प्रसार है किन्तु वहाँ मोक्ष के प्रश्न पर सब लोग मौन हैं। पाश्चात्य दर्शन में भी भौतिकवाद के तुच्छ धरातल से ऊपर उठकर पूर्ण प्रत्ययवाद में प्रवेश की चेष्टा की गयी हैं किन्तु भारतीय दर्शनों से उनका कोई मेल नहीं है। कारण यह है कि भारतीय दर्शन में जीवन को दर्शन के क्षेत्र से पृथक कभी नहीं समझा गया। जीवन के धरातल पर ही सभी दर्शनों की प्रतिष्ठा हुई है। वह न केवल तत्वों की मीमांसा करता है अपितु आचार शास्त्र, प्रमाण शास्त्र, क्रिया शास्त्र, मोक्ष शास्त्र आदि सभी विषयों को अपने में समेट कर चलता है। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन तत्व मीमांसा में इतना सन्नद्ध है कि अन्य प्रश्नों पर विचार करने का उसे अवकाश ही नहीं है।

सभी भारतीय दर्शन का मुख्य कार्य सत्पदार्थ के यथार्थ स्वरुप का उद्घाटन और अनावरण करना है। भारतीय दर्शन के आदि श्रोत वेदों और उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म को एकमात्र सत् माना गया है। अतः इस आत्मा या ब्रह्म के स्वरुप की उपलब्धि ही दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। वेदों और उपनिषदों के कुछ भाष्यकारों के अनुसार वेदों में बहुदेववाद पाया जाता हैं जबकि कुछ समालोचक ऐसा नहीं मानते। यदि निष्पक्ष दृष्टि से वेदों का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि वेदों का वास्तविक मन्तव्य एक तत्ववाद ही है जिसे अद्वैतवाद के नाम से भी अभिहित किया गया है। प्रमाण स्वरुप ऋगवेद की कुछ पंक्तियाँ उद्दृत हैं। १"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" २"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्चभाव्यम्", ३"महद्देवा नाम सुरत्वमेकम्"।

१" ऋग्वेद १ - १६४ - ४६"
२" ऋग्वेद १० - ९०"
३" ऋग्वेद ३ - ५५"

इस सत् पदार्थ या तत्व का साक्षात्कार किस प्रकार हो उसके लिए प्रमाणों के रुप में विभिन्न दर्शनों में साधन दिए गए हैं। किसी वस्तु का ज्ञान कैसे प्राप्त करें और शुद्ध ज्ञान के प्राप्ति के कौन-कौन से साधन हैं इस पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी रुचि के अनुसार व्याख्यान किया है एवं प्रमाणों की संख्या निर्धारित की है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। उसके अनुसार कोई भी ज्ञान ग्रहण करने के लिए इन्द्रिय विशेष की आवश्यकता होती है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। चार्वाक के मत में अनुमान प्रमाण के लिए व्याप्ति ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है और व्याप्ति ज्ञान या व्याप्ति की स्थापना किसी भी साधन से नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि धूम और अग्नि का सम्बन्ध हमारी आँखों के सामने वर्तमान काल में एक स्थान पर भले ही हो किन्तु उसी काल में अन्यत्र भी दूसरे स्थान पर भी यह संयोग होगा यह निश्चित नहीं। अतीत काल और अनागत काल के विषय में कहना और कठिन है। दूसरी ओर बौद्धों और जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाण ग्राह्य हैं। इनके अनुसार व्याप्ति का ज्ञान करना कठिन कार्य नहीं है। बौद्ध लोग व्याप्ति ज्ञान के लिए कार्य कारण भाव सम्बन्ध और तादात्म्य सम्बन्ध को उपाय के रुप में उपस्थित करते हैं किन्तु जैन लोग व्याप्ति ज्ञान के लिए अन्वय और व्यतिरेक पर ही सन्तुष्ट हैं। अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत ही बौद्धों और जैनों ने शब्द प्रमाण और उपमान प्रमाण को ग्रहण किया है। वैशेषिक लोग भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। उनके मत में शब्द प्रमाण सभी स्थानों पर प्रमाण नहीं होता। माध्व सम्प्रदाय के लोग प्रत्यक्ष और शब्द को प्रमाण मानते हैं अनुमान को नहीं। नैयायिकों के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चारों ही प्रमाण के रुप में स्वीकार्य हैं। मीमांसक इन चारों के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण स्वरुप मानते हैं। अर्थापत्ति का तात्पर्य है कि जब किसी दूसरे प्रकार से वस्तु स्थिति का अभाव सिद्ध हो तो किसी एक स्थिति का आपादन कर लें जैसे– 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' में दिन में भोजन न करने पर भी देवदत्त की मोटाई को देखकर उसके रात में

भोजन करने का आधान किया गया है क्योंकि बिना भोजन किए मोटाई सम्भव नहीं। अनुपलब्धि का अर्थ है किसी वस्तु का अभाव जानना। शंकराचार्य भी उपर्युक्त छः प्रमाणों को ही मान्यता देते हैं।

प्रमाणों की विवेचना करने के पश्चात् दार्शनिकों को इनके आधार पर दो कोटियों में रखा जा सकता है तार्किक और श्रौत। श्रौत दार्शनिक वे हैं जो मूल तत्व के अन्वेषण में श्रुति को ही मूल सम्बल मानते हैं। इन्हें हम वेदवादी भी कह सकते हैं। इनमें शंकराचार्य, जैमिनि, पाणिनि आदि आते हैं। तार्किक दार्शनिक से हमारा अभिप्राय उन दार्शनिकों से है जो श्रुति प्रतिपादित मूल तत्व के अनुसंधान में तर्क का सहारा लेते हैं। यह तर्क अनुमान का ही दूसरा नाम है। सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक दर्शन वाले तार्किक कोटि में आते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि श्रौत और तार्किक दार्शनिकों में भेद का कारण यह है कि श्रौत पक्ष में वेदों को स्वतः प्रमाण माना गया है जबकि तार्किक उन्हें परतः प्रमाण मानते हैं। स्वतः प्रमाण का अर्थ है कि वेदों की प्रामाणिकता अपने आप सिद्ध है। उन्हें किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए वे अपौरुषेय हैं और उनकी शक्ति अकुण्ठित और अप्रतिहत है। दूसरी ओर जो लोग वेदों को परतः प्रमाण मानते हैं उनका कहना है कि वेद पौरुषेय है, अनित्य है। उनकी सिद्धि के लिए हमें दूसरे साधनों पर निर्भर करना पड़ता है। इस दशा में वेदों को पुरुष अर्थात् ईश्वर की रचना मानते हैं।

वेदों के पौरुषेय और अपौरुषेय होने का मीमांसा दर्शन में अच्छी तरह विचार किया गया है। निष्कर्षतः मीमांसक इस बात पर सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय ही हैं, ईश्वर से केवल प्रकाशित हुए हैं। इनके अनुसार ईश्वर को उनके प्रकाशन में न बुद्ध की आवश्यकता पड़ी और न परिश्रम की इसलिए उन्हें ईश्वरकृत नहीं कहा जा सकता। अपौरुषेय मानने पर ही श्रौत दार्शनिकों ने श्रुति की प्रामाणिकता सबसे उपर स्वीकार की है। इस प्रकार प्रमाणों के विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं एक तो प्रमाणों की संख्या और दूसरी प्रमाणों की प्रामाणिकता या पूर्वापरता।

यद्यपि विभिन्न भारतीय दर्शनों ने विभिन्न प्रतिपाद्यों का प्रतिपादन किया है किन्तु उनमें से कुछ मुख्य प्रतिपाद्य ऐसे हैं जो प्राय: सभी दर्शनों में समान रुप से प्रतिपादित किए गए हैं। चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन धारायें प्राय: एक ही उद्गम से प्रवाहित हैं। यह उद्गम पुरुष की दुःखानुभूति हैं। यदि दुःख-अनुभूति न होती तो दर्शन का दर्शन भी न होता। दुःख की अनुभूति से प्रेरित होकर ही भगवान बुद्धदेव ने इसकी निवृत्ति के लिए चार आर्य सत्यों को खोज निकाला था। वे आर्य सत्य है :- दुःख, दुःखहेतु,दुःखनिरोध और दुःख निरोध मार्ग। इन्हीं चारों को विभिन्न दार्शनिकों ने दुःख,दुःख हेतु, मोक्ष एव मोक्षोपाय के नाम से अपने-अपने दर्शन ग्रन्थों में मुख्य प्रतिपाद्य के रुप में प्रतिपादित किया है। इस लिए इस स्थल पर इन चारों के विषय में संक्षिप्त जानकारी अत्यावश्यक है।

दुःखः- प्राय: सभी दार्शनिकों ने इस दृश्यमान नाना रुपात्मक विश्व को दुःखालय माना है क्योंकि इसमें समस्त प्राणी वर्ग किसी न किसी दुःख से अभिभूत है। जन्म मरण रुप दुःख का अनुभव तो सभी करते हैं पर इसके अतिरिक्त भी विविध प्रकार के दुःख सांसारिक लोगों को भोगने पड़ते हैं।इन सभी दुःखों को दुःखत्रय के नाम से समष्टि रुप से जाना जाता है। दुःख की आंशिक निवृत्ति से अज्ञानीजन भले ही क्षणिक सुख का अनुभव कर लें किन्तु विवेकी के लिए वह दुःख ही है। न्याय और वैशेषिक भी इस दुःखयालय को विपाक्त अन्नवत् त्याज्य वताते हैं। सांख्य दर्शन का प्रारम्भ भी दुःखत्रयाभि-घात् के लिए हुआ है। योग दर्शन पंचक्लेश विमुक्ति के लिए ईश्वर प्रणिधा-नादि साधन बताता है। मीमांसा और वेदान्त दर्शन में भी क्रमशः दुःख निवा रण के लिए सुखद स्वरुप स्वर्ग एवं आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति के साधन बताये गये हैं।

दुःख हेतु :- दुःख का ज्ञान होने के बाद सभी दर्शनों ने इन दुःखों के कारणों का अन्वेषण भी प्राय: समान रुप से किया है। सभी इस बात पर सहमत हैं कि अविद्या, दुःख का मूल है। अविद्या के कारण ही लोभ होता है और लोग इन समस्त दुःखत्रयात्मक भौतिक पदार्थों को सुखमय समझ कर

इनके भोग में प्रवृत्त होते हैं और आजीवन दुःखों का अनुभव करते हुए जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं। यह अविद्या या अज्ञान वस्तुतत्व के यथार्थ स्वरुप को न समझना ही है। इसी के कारण यह संसार नित्य, सत्य एवं सुख स्वरुप जान पड़ता है। इस लिए सभी दर्शनिक दुःख के विनाश के लिए अविद्या को आत्यन्तिक निवृत्ति के विविध उपाय एवं साधन बताये हैं।

मोक्ष :- यद्यपि चार्वाक की दृष्टि में मृत्यु ही मोक्ष है फिर भी अन्य भारतीय दर्शन दुःखों की आत्यन्तिक एवं एकान्तिक निवृत्तिके साथ आत्मा का अपने स्वरुप में स्थित होना ही मोक्ष बताते हैं। न्याय वैशेषिक आत्मा की सद्रूप स्थिति को मोक्ष कहता है, तो सांख्य योग आत्मा की चित्स्वरुपास्थिति को। मीमांसा एवं वेदान्त इन दोनों को मिलाते हुए आत्मा की सच्चिदानन्दस्वरुपास्थिति को मोक्ष कहते हैं। निष्कर्षतः सभी दर्शन प्रायः सच्चिदानन्दस्वरुपास्थिति से दुःखत्रयाभिघात् को स्वतः सिद्ध मानते हैं। यद्यपि इन सभी दर्शनों की स्वरुपास्थिति की प्रक्रिया भिन्न भिन्न है, साधन भी भिन्न है तथापि सबका परम लक्ष्य एक ही है अर्थात् सभी दर्शन आत्मा के देहादि एवं जागतिक पदार्थों से सर्वथा भिन्न विवेक तथा स्वरुपावस्थान को मोक्ष मानते हैं।

मोक्षोपाय:- भारतीय दर्शनों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि कोई भी दर्शन पलायनवादी नहीं है। वह संसार को छोड़कर भागने को नही कहता अपितु संयम एवं नियम द्वारा दुर्वासनादि विकार विनिर्मुक्ति स्वच्छ एवं काम क्रोधादि अन्तः करण के शत्रुओं से रहित बताकर मुक्ति पाने का उपदेश देते हैं। अतएव विविध पद्धतियों में यम, नियम, धारणा, ध्यान, समाधि, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि को दुःख निरोध का मार्ग कहा गया है। ये यम नियमादि वे साधन हैं जिनसे पुरूष ऐहिक विषयों से विरक्त होकर सर्व प्रथम आत्मतत्व बोध करता है तत्पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। यम नियमादि के द्वारा चित्त शुद्धि होती है और श्रवण मननादि द्वारा आत्म चिन्तन और जीवन परिमार्जन ही मोक्षोपाय का स्वरूप है। अज्ञानजन्य काम क्रोधादि अजेय शत्रुओं को सर्वथा पराजित किए बिना जीवन का परिमार्जन न तो संभव है न देहाभ्यास ही छूटता है। अतः इन शत्रुओं का निराकरण सर्वप्रथम यम

संयमादि द्वारा किया जाता है। तब चित्त की शुद्धि होती है। अनन्तर ध्यान, धारणा,समाधि आदि से चित्त में एकाग्रता आती है जिससे तत्वज्ञान होता है। तत्वज्ञान के बाद ही मोक्ष होता है। सांख्य, योग, बौद्ध और जैन दर्शन भी कुछ भिन्न रीति से इसी प्रक्रिया को निर्वाण का साधन मानते हैं। वेदान्तादि दर्शन भी योग सम्मत यम नियमादि को मोक्षोपाय कहते हैं। इन चार के अतिरिक्त भी कुछ तत्व ऐसे हैं जिनका विवेचन प्रायः सभी दर्शनों में पाया जाता है। वे हैं कर्मवाद, पुर्नजन्मवाद, आत्मवाद, सृष्टि, कार्य कारण और प्रमाण। इन सबके बारे में भी संक्षिप्त ज्ञान कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

कर्मवाद:- भारतीय दर्शन सामान्यतया जगत् की नैतिक व्यवस्था अथवा ऋत् का समर्थन करते हैं। चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी दर्शन ऋत् अथवा जगत् की नैतिक व्यवस्था को मानते हैं और उनका मत है कि यह विश्व एक व्यापक व्यवस्था के अधीन होकर निर्बाध गति से चल रहा है और इसी नैतिक व्यवस्था के आदेश से सूर्य, चन्द्र, ग्रहण, नक्षत्रादि सभी एक नियमित परिधि के अन्दर चल रहे हैं। वेदों में इस व्यवस्था को ऋत् कहा गया है जो आगे चलकर दर्शनों में कर्म अथवा नियत के नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषदों में इस कर्म को नैतिक नियम के रूप में स्वीकार कर यह माना गया है कि मनुष्य जिस प्रकार का शुभाशुभ कर्म करता है वैसा ही उसे शुभाशुभ फल भी भोगना पड़ता है। इनके अनुसार कर्म का कभी नाश नहीं होता और अकृत कर्म का कभी फल भी नहीं होता। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि तत्वज्ञान या विवेक ज्ञान से संचित एवं संचीयमाण कर्मों का नाश हो जाता है तथापि मुमुक्षु साधक को भी आजीवन प्रारब्ध कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। अतः चाहे कोई सामान्य जन हो या ज्ञानी सभी को कर्म का फल भोगना पड़ता है। मीमांसा दर्शन कर्म को अपूर्व कहता है क्योंकि उसके मत में कृत यज्ञानुष्ठान कभी नष्ट नहीं होता अपितु एक अपूर्व की सृष्टि करता है जो भविष्य में फलदायक होता है। न्याय दर्शन इसी कर्म को अदृष्ट कहता है तथा उसका मानना है कि शुभ कर्मानुष्ठाता पुण्यात्मा एवं धर्मात्मा होता है और अशुभ कर्मकारी अधार्मिक एवं पापी होता है। चुँकि प्रत्येक प्राणी के

लिए कर्मानुसार फल प्राप्ति अनिवार्य है, अतएव यही कर्म सुख-दुःख का भी कारण माना जाता है।

पुनर्जन्म:- संसार की उक्त नैतिक व्यवस्था के अनुसार जन्म और मृत्यु का चक्कर सदा चलता रहता है और जीव को इस परिधि में आकर घूमना पड़ता है। गीता की यह पंक्ति, "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च," इसी ओर संकेत करती है। कर्म के तीन रुप होते हैं-संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। समस्त कृत कर्मों का फल प्राणी एक ही जन्म में नहीं भोग पाता, अत: कर्म फल भोग के लिए जीव को पुन: पुन: कर्मानुसार योनियों में जन्म लेना पड़ता है। प्रारब्ध कर्मों का फल प्राणी भले ही एक जन्म में भोग ले किन्तु संचित और क्रियमाण कर्मों के फल भोग के लिए उसे तब तक जन्म मरण के चक्र में घूमना पड़ता है जब तक कि तत्वज्ञान द्वारा उसके समस्त एकान्तिक कर्मों का विनाश नहीं हो जाता और वह कर्म बन्धन से मुक्त नही हो जाता। चार्वाक इस मत से सहमत नहीं है। वह पुर्नजन्म को नहीं मानता। इसका मत है कि, "जब तक जियो खाओ पियो और प्रसन्न रहो," क्योंकि यहाँ से मरने के बाद कोई कुछ लेकर नहीं जानेवाला है। चार्वाक को छोड़ कर अन्य सभी दर्शन कर्मवाद एव पुर्नजन्मवाद के सिद्धान्त को मानते हैं। यद्यपि यह पुर्नजन्म का सिद्धान्त कर्म सापेक्ष है तथापि इसके प्रतिपादन के लिए आत्मा को नित्य मानना आवश्यक है। आत्मा के नित्यत्व को माने बिना पुर्नजन्म का सिद्धान्त घटित नहीं हो सकता लेकिन बौद्ध लोग आत्मा को अनित्य मानते हुए भी अनित्य पंचस्कन्धों के आधार पर पुर्नजन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।

आत्म तत्व विवेचन:- सभी आस्तिक दर्शनों में आत्मा को एक सर्वश्रेष्ठ तत्व के रुप में मानकर उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। यद्यपि विभिन्न दर्शनों में आत्मा का प्रतिपादन भिन्न भिन्न प्रकार से हुआ है यथा सांख्य दर्शन में आत्मा अर्थात् पुरुष को नित्य, विभु, चेतनस्वरुप, अकर्त्ता एवं सुख दु:ख की अनुभूतियों से परे माना गया है, योग दर्शन विभु एव चैतन्य स्वरुप ही मानता है। मीमांसा दर्शन आत्मा को नित्य एवं विभु मानते हुए भी

चैतन्य को उसका आगन्तुक धर्म मानता है। वेदान्त दर्शन में यही आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सच्चिदानन्दस्वरुप कहा गया है। वेदान्त में आत्मा के विषय में मतभेद है। अद्वैत वेदान्त आत्मा को विभु मानता है जबकि कुछ बेदान्त आत्मा को अणु एवं परमात्मा को विभु मानते हैं। न्याय वैशेषिक में आत्मा को नित्य एवं अविनाशीं बताया गया है तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दु:ख और ज्ञान ये छ: आत्मा के गुण कहे गये हैं। सांख्य और अद्वैत वेदान्त आत्मा कों निर्गुण मानता है। जैन दर्शन में आत्मा को मध्यम परिमाण के रुप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध लोग भी यद्यपि आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करतें हैं किन्तु वे उसके नित्यत्व की नहीं मानते। वे ज्ञान अनुभूति और संकल्पों के क्षणश: परिवर्तनशील विज्ञान संतान को आत्मा मानते हैं।

सृष्टि:- सृष्टि का विचार प्राय: सभी दर्शनों में किया गया है। इनमें बहुत कुछ साम्य होते हुए भी पर्याप्त वैषम्य देखा जाता है। यह वैषम्य सृष्टि के कारण को लेकर पाया जाता है, उदाहरणतया सांख्य में सृष्टि का मुख्य कारण प्रकृति है जबकि अद्वैत वेदान्त सृष्टि का कारण अविद्या या माया को मानता है। अद्वैत वेदान्त के मतानुसार जितने भी कार्यं हैं वे सभी असत्य या मिथ्या हैं केवल परम कारण ब्रह्म ही सत्य और नित्य है। नैयायिकों की सृष्टि प्रक्रिया प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों की अणुवादी प्रक्रिया से अधिक साम्य रखती है। न्याय वैशेषिक परमाणु से सृष्टि को मानते हैं। सांख्य की प्रकृति की तरह ये परमाणु को भी नित्य मानते हैं एवं उसका कार्य रुप द्वयणुकादि भी सत् मानते हैं।

कार्य-कारणवाद:- भारतीय दर्शनों में कार्य-कारणवाद एक सामान्य एवं महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य है। जगत् प्रपञ्च अथवा सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए कार्य-कारण सम्बन्ध को प्राय: सबने स्वीकार किया है। सांख्य के मत से अव्यक्त प्रकृति ही इस जगत् प्रपञ्च रुप कार्य का कारण है। ऐसे जगत् प्रपञ्च रुप कार्य का आविर्भाव, और तिरोभाव प्रकृति में ही सम्भव है। सांख्य के मतानुसार सत् कारण में अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत् रहनेवाले कार्य का अपने कारण से विकास होता है, किन्तु अद्वैत वे-

दान्त ब्रह्म् से जगत् की उत्पत्ति विवर्तवाद के अनुसार मानता है। नैयायिक लोग कारण में कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से पूर्व नहीं मानते, अपितु कार्य की नई उत्पत्ति या आरम्भ मानते हैं। इनके मत में, "सतः असत् जायते" अर्थात् सत् कारण से पहले से विद्यमान असत् या न रहने वाले कार्य की उत्पत्ति होती है। ठीक इसके विपरीत बौद्ध लोग असत् से ही सत् की उत्पत्ति मानने वाले हैं। उनका मत है, "असतः सत् जायते" अर्थात् समस्त भाव पदार्थ क्षणिक हैं। अतः असत् से ही सत् पदार्थ उत्पन्न हुआ करते हैं।

प्रमाणवादः- प्रमाणों की चर्चा हमने पीछे किया है और विभिन्न दर्शनों के अनुसार उनकी संख्या और प्रामाणिकता पर काफी विचार किया है। इसे देखते हुए यह कहना उचित ही है कि सभी दर्शन अपनी उक्तियों की सिद्धि के लिए प्रमाण का निरुपण अपने अपने ढंग से करते हैं। किसी ने दो प्रमाण माने हैं तो कोई तीन, कोई चार और छः प्रमाण मानता है। केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जो एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है।

इसके अतिरिक्त सभी आस्तिक दर्शनों में ईश्वर, जीव, और संसार तथा तत्वों के बारे में सामान्य रुप से विचार किया गया है। कोई दार्शनिक तीनों की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनको पदार्थ मानते हैं। कुछ दो को पदार्थ मानते हैं और कुछ केवल एक ही को पदार्थ मानते हैं। वास्तविकता चाहे जो भी हो इतना तो निर्विवाद है कि सभी दर्शनों ने चाहे खंडन के रुप में चाहे मंडन के रुप में इन तीनों की व्याख्या अवश्य की है, अतएव इन तीनों का सामान्य परिचय होना आवश्यक है।

ईश्वरः- चार्वाक जैसा घोर भौतिकवादी दर्शन भी ईश्वर को मानता है किन्तु वह अन्य दर्शनों की भाँति ईश्वर को अलौकिक नहीं मानता, वह पृथ्वि के राजा को ही परमेश्वर मानता है। उसके मत में अलौकिक कर्म होते ही नहीं, अलौकिक कर्म एवं उसके फल को वह जन सामान्य को ठगने के लिए वैदिक पंचकों का बकवाद एवं धूर्तों का उपाख्यान मानता है। इसके अनुसार केवल लौकिक कर्मों केफल होते हैं। लौकिक कर्मों का फल राजा निग्रह एवं अनुग्रह के द्वारा लोगों को देता है। याचकों को दान देकर और चोरों

से अतिरिक्त और कोई अलौकिक ईश्वर नहीं हो सकता। चार्वाक की ही भाँति बौद्ध और जैन भी तथा सांख्य एवं मीमांसक भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। बौद्ध एवं जैन अपने अपने धर्म प्रवर्तकों को ईश्वर मानते हैं। अन्य मीमांसक मनुष्य के कर्मों का शुभाशुभ फल देनेवाले के रुप में अदृष्ट नाम की एक शक्ति को ईश्वर कहते हैं। वैयाकरण लोग शब्द की परावस्था स्फोट को ईश्वर बतलाते हुए शब्द ब्रह्म की मान्यता देते हैं। ईश्वर की अलग सत्ता रामानुज वेदान्त में प्रतिपादित हुई है। उनके अनुसार ईश्वर जीवों का नियामक अन्तर्यामी और उनसे पृथक पदार्थ हैं। जीव और जड़ उसके शरीर हैं। जीवों को वह उनके कर्मों के अनुसार फल देता है। मध्वाचार्य के अनुसार भी ईश्वर इन्ही विशेषणों से युक्त है किन्तु वह संसार के अन्य पदार्थों से भिन्न है। वह संसार का उपादान कारण न होकर निमित्त कारण है। माहेश्वर सम्प्रदाय, नैयायिक और वैशेषिक दर्शन भी ईश्वर को निमित्त कारण ही मानते हैं। यहाँ ईश्वर को स्वतन्त्र मानने वाले दर्शनों में दो मत पाये जाते हैं। पाशुपत् और प्रत्यभिज्ञ दर्शन यह मानता है कि ईश्वर कर्म फल देने के समय जीवों द्वारा किए गए कर्मों की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसा करने पर ईश्वर की स्वतन्त्रता नहीं सिद्ध हो सकेगी। दूसरी ओर माहेश्वर,वैशेषिक और मध्वाचार्य कहते हैं कि ईश्वर कर्म सापेक्ष है। वह कर्म की अपेक्षा रखते हुए भी संसार का निर्माण करता है। योग दर्शन भी ईश्वर को मानता है तथा उसकी पृथक सत्ता भी स्वीकार करता है किन्तु वह उसे न तो संसार का निमित्त कारण मानता है और न उपादान कारण ही, अपितु सर्वथा निर्दोष और निर्गुण मानता है।

शंकराचार्य भी ईश्वर को निर्दोष एवं निगुर्ण ही मानते हैं किन्तु उसे पारमार्थिक मानते हैं। ईश्वर के विषय में विभिन्न दर्शनों में दिये गये बहुत से प्रमाण मिलते हैं। ये प्रमाण श्रुति और अनुमान पर आधारित हैं। श्रौत दर्शन तो सीधे ईश्वर को श्रुति सिद्ध मानता है। तार्किक दर्शन ईश्वर की सिद्धि अनुमान से करते हैं लेकिन उन्हें भी श्रुति का साहारा लेना ही पड़ता है। इस प्रकार प्रायः सभी दर्शनों में कर्म एवं कर्म फल को देने वाले के रुप में ईश्वर की चर्चा सर्वत्र प्राप्त होती है।

जीव:- ईश्वर के समान ही जीव को लेकर भी सभी दर्शनों में विवाद है। चार्वाक दर्शनशरीर को ही आत्मा मानता है।यह चैतन्य से युक्त हो सभी कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। चार महाभूतों के मिलने से विशेष क्रिया के द्वारा इस चैतन्य की उत्पत्ति होती है। उसमें चैतन्यांश के द्वारा ही ज्ञान होता है। चैतन्यविरहित देहांश जड़ स्वरूप है। चार्वाक के कुछ अनुयायीआत्मा के विषय में मतभेद भी रखते हैं। इनमें से कुछ इन्द्रियों को आत्मा मानते हैं, कुछ प्राण को आत्मा मानते हैं और कुछ मन को। चार्वाक दर्शन की चर्चा विभिन्न दर्शनों में पूर्वपक्ष के रुप में विद्यमान है। स्वतंत्र रूप से चार्वाक दर्शन अनुपलब्ध है इस लिए उसका सम्पूर्ण विवेचन प्रायः असंभव ही प्रतीत होता है। बौद्ध लोग जीवात्मा को विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं। चुँकि विज्ञान का स्वरुप क्षण क्षण बदलने वाले प्रवाह के तुल्य है इसलिए आत्मा भी क्षण क्षण बदलने के कारण अनित्य है। पूर्वक्षण में उत्पन्न विज्ञान अपने उत्तर क्षण में संस्कार के रूप में चला जाता है इसलिए स्मृति आदि की सिद्धि की जाती है। शून्यवादियों की दशा तो अधर में लटकी हुई है। वे सिद्धान्त रुप से आत्मा के मूल रुप को शून्य मानते हैं किन्तु ब्यवहार को दशा में आत्मा की प्रतीति पदार्थ रूप में करते हैं। जैन लोग जीवात्मा को देह से भिन्न किन्तु देह के परिमाण में रहने वाली मानते हैं। उनके अनुसार जीवात्मा देह के बढ़ने और घटने से बढ़ती घटती रहती है। इस प्रकार वह जीवात्मा को नित्य तो मानते हैं किन्तु उसे विकारी भी मानते हैं।

आस्तिक दर्शनों में नैयायिक और वैशेषिकों का मत है कि गुणों के अनित्य होने के कारण जीवात्मा भी विकारी है क्योंकि धर्मों में आने जाने वाले धर्म-धर्मी को विकारशील बना देते है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा एक समान रूप में नित्य नहीं है और आत्मा का स्वरूप जड़ के सामान हो जाता है। यही कारण है कि मुक्ति की दशा में ज्ञान का नाश हो जाने से आत्मायें पाषाणवत् हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में पञ्चदशी में मीमांसकों ने पर्याप्त विचार किया है। भाट्ट मतवादी, आत्मा अंश के भेद से ज्ञान और जड़ दो रूपवाली है, ऐसा मानते हैं। शैव, सांख्य, योग तथा वेदान्तियों के मत में आत्मा केवल

ज्ञान स्वरूप में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शनों में आत्मा को लेकर दो वर्ग निर्गुण और सगुण रूप में पाये जाते हैं। अद्वैत वेदान्ती, सांख्य योग वाले आत्मा को निर्गुण मानते हैं जब कि द्वैत वेदान्ती, विशिष्टाद्वैत, नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को सगुण मानते हैं।

जहाँ तक जीवात्मा के परिमाण का सम्बन्ध है, बौद्ध का मत है कि चुँकि आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है इसलिए उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं हो सकता। वास्तव में आत्मा का आश्रय कोई है ही नही जिससे आत्मा उसके अनुरूप कोई परिमाण धारण कर ले। रामानुज, मध्व और वल्लभ सम्प्रदाय वालों का कहना है कि जीव या आत्मा का परिमाण अणु के समान है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल और अद्वैत वेदान्त वाले जीवात्मा को विभु के रूप में स्वीकार करते हैं। चार्वाक, शून्यवादी बौद्ध तथा जैन लोग आत्मा को अणु और विभु के बीच में मध्यम परिमाण का स्वीकार करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जीव कर्त्ता है या भोक्ता। इस विषय में भी दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है। नैयायिक और वैशेषिक जीवात्मा का कर्त्तृत्वशक्ति मानते हैं। रामानुज और मध्व सम्प्रदाय वाले जीवात्मा के कर्त्तृत्व को सत्य मानते हुए भी उसे नैमित्तिक ही स्वीकार करते हैं, स्वाभाविक नहीं। अद्वैत वेदान्ती कुछ उपाधियों के कारण जीवात्मा को कर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। सांख्य मतानुसार कर्त्ता मूल रूप से प्रकृति ही है। प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण जीवात्मा में भी कर्त्ता की प्रतीति हो जाती है। इस तरह जिस रूप में जीवात्मा कर्त्ता है उसी रूप में भोक्ता भी है।

संसार:- संसार अर्थात् जड़ वर्ग की सत्ता के विषय में प्रायः सभी दर्शन एकमत हैं। यह दूसरी बात है कि इस सत्ता का निरूपण उन्हों ने अपने अपने ढंग से अलग अलग किया है। चार्वाक का कहना है कि जड़ पदार्थ ही संसार का मूल कारण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परिमाण ही मिलकर संसार का निर्माण करते हैं। बौद्ध लोग भी यद्यपि चार्वाक की तरह पंचम तत्व आकाश को नहीं मानते किन्तु वे चार्वाक के द्वारा सम्मत परमाणुओं में आकाश को एक अवयव मानते हैं और उन समस्त अवयवों का प्रवाह संसार के निर्माण

का मूल कारण के रूप में स्वीकार करते हैं । ये लोग आकाश को भी एक तत्व की मान्यता देते हैं । न्याय वैशेषिक संसार के निर्माण की प्रक्रिया पर पूरा विचार करता है। उसके अनुसार सूर्य की किरणों में उड़नेवाले धूलि कण को परमाणु कहते हैं । दो परमाणुओं के संयोग से एक द्वयणुक बनता है और तीन द्वयणुकों के मिलने से एक त्र्यणुक बनता है । यही त्र्यणुक सूर्य की किरणों में धूल के रूप में दिखलाई पड़ता है । इसी प्रकार संसार का निर्माण होता है । वे परमाणु नित्य है । इसके विपरीत मीमांसक और वैयाकरण परमाणुओं को भी अनित्य मानते हुए केवल शब्द की ही नित्यता स्वीकार करते हैं तथा उसे ही संसार का मूल कारण मानते हैं । सांख्य, योग इससे भी एक कदम आगे बढ़कर शब्द को कार्य और शब्द का कारण अहंकार को मानता है। अहंकार का कारण महत् और महत् का कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है। अतएव इनके मत में प्रकृति ही संसार का मूल कारण है । रामानुज मत भी इसका समर्थन करता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त इसका विरोध करता है । उसके अनुसार यह प्रकृति भी मूल कारण नही हो सकती, क्योंकि यह ब्रह्म का विवर्त है जिससे प्रकृति सद्वस्तु के रूप में प्रतीत होती है । आत्मा ब्रह्म का स्वरूप है इसलिए आत्मा ही संसार का मूल कारण है । ये सारे दृश्यमान पदार्थ इसीके विवर्त्त हैं ।

संसार के मूल कारण पर विचार कर लेने के बाद यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मूल कारण के साथ कार्य के सम्बन्ध पर भी विचार किया जाय । सम्बध के विषय में न्याय वैशेषिकों का कहना है कि कारण तीन प्रकार के होते हैं--- समवायि, असमवायि और निमित्त। ये तीनों मिलकर अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करते हैं । अर्थात् कारणों से भिन्न रूप में कार्य की उत्पत्ति होती है । इसे आरम्भवाद भी कहते हैं, लेकिन अन्य दर्शन वाले इस मत से सहमत नहीं हैं । बौद्ध लोग कहते हैं कि समवायि अर्थात् उपादान कारण अपने से भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं करते जैसे मिट्टी या सूत अपने से भिन्न पदार्थ को नहीं बना सकते । तदनुसार समवायि कारण का संघात होने से ही कार्य होता है। इस मत को भी बौद्ध दर्शन के सौत्रान्तिक और वैभाषिक ही स्वीकार

करते हैं। चुँकि संघात् भी उन क्षणों में बदलता रहता है अतः कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य उत्पन्न हो जाता है। शून्यवादी कार्य के कारण को सत् नहीं स्वीकार करते। वे इसके असत् स्वरूप को ही स्वीकार करते हैं तथा क्षण-क्षण में इसकी प्रतीति मानते हैं। इस मत को लोग असत्ख्यातिवाद भी कहते हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञान रूपी आत्मा क्षण-क्षण में नये-बाह्य पदार्थों के रूप में प्रतीत होती है। उपादान कारण जब वास्तव में कार्य के रूप में बदल जाय तो उसे परिणाम कहते हैं और जब कारण की परिणति कार्य के रूप में सत् नहीं हो केवल उसकी प्रतीति हो तो उसे विवर्त्त कहते हैं। रामानुज, सांख्य और योग मतवादी परिणामवादी हैं जबकि शंकराचार्य विवर्त्तवादी हैं।

शंकराचार्य के विवर्त्तवाद का एकरूप दृष्टि सृष्टिवाद के रूप में देखने को मिलता है। इसका अर्थ है कि जिस समय हमने किसी वस्तु को देखा उसी समय उसकी सृष्टि हो गई। वस्तुस्थिति यह है कि देखनेके समय द्रष्टा की अविद्या के कारण उक्त वस्तु उस रूप में सृष्टि दिखलाई पड़ती है, पहले से उसकी सत्ता नहीं रहती। उदाहरण स्वरूप किसी व्यक्ति ने सींपी में रजत को देखा तो उस समय उस स्थान पर रजत उसकी अविद्या से ही उत्पन्न हुआ है। उसके पूर्व या पश्चात् रजत की प्रतीति नहीं होती। सांसारिक प्रपञ्च भी व्यक्ति की अविद्या के कारण तात्कालिक और तदरूप ही सृष्टि होता है। जीवों के नानात्व के कारणप्रपञ्च में भी नानात्व उत्पन होता है। वास्तव में जीव होना ही अविद्या के कारणहोता है, वस्तुतः वह है नहीं। अभिनवगुप्त सम्प्रदाय भी यही वात कहता है किन्तु वे इसे विवर्त्त नहीं प्रतिबिम्ब मानता है। उनके अनुसार यह ठीक है कि जगत् ब्रह्म के कारणहै लेकिन न ब्रह्म नेसंसार का आरम्भ किया है न संसार ब्रह्म का परिणाम है और न हीविवर्त्त। जिस प्रकार दर्पण में बाह्य पदार्थों का प्रतिविम्ब मात्र दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार ब्रह्म में अन्तर्भूत जगत् का प्रतिबिम्ब मात्र दिखलाई पड़ता है। विम्ब के स्थान पर स्वीकृत माया ब्रह्म में अपना सम्बन्ध दिखाकर बिम्ब के अभाव में भी प्रतिविम्ब उत्पन करती है। अतः विम्ब को अलग मानकर न तो द्वैत पक्ष

में जाने की आवश्यकता है, न ही बिम्ब पृथक नहीं है, ऐसा कहकर मूलच्छेद करने की ही आवश्यकता है।

भारतीय दर्शन के स्वरूप को समझने के लिए प्रयोजन, प्रमाण और प्रमेय का संक्षिप्त ज्ञान कर लेने के उपरान्त कुछ प्रमुख भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं के विषय में प्रारम्भिक ज्ञान करलेना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि उपर कहा जा चुका है भारत में दो तरह के दर्शन प्रचलित रहे हैं श्रौत और ताकिक। सभी ईश्वर वादी दर्शन श्रौत के अधीन हैं एवं अनीश्वर-वादी दर्शन तार्किक हैं। इस क्रम में दोनो ही प्रकार के कुछ प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं का परिचय कराया जायेगा।

वैदिक विचारधारायें:-- वैदिक मन्त्रों में अभिव्यक्त विचारधार के विभिन्न स्वरूपों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनमें इस भौतिक जगत् को अपने स्वरूप अर्थात् अपनी भौतिक शक्ति से प्रतिष्ठित नहीं माना गया अपितु किसी अन्य देवादि की अति भौतिक शक्ति पर प्रतिष्ठित माना गया है। वेदों में भौतिक जगत् के दो प्रमुख भाग माने गये हैं- आकाश औरपृथ्वी। प्रारम्भ में आकाश और पृथ्वी को भी देव युगल के रूप में देखा गया है किन्तु आगे चल कर इन्हें भौतिक रूप में भी देखा गया है। फिर भी इन्हें स्वायत्त नहीं बताया गया अपितु किसी अन्य देवादि की अति भौतिक शक्ति पर ही अधारित बताया गया है। वैदिक मन्त्रों में अभिव्यक्त दार्शनिक विचार-धारा को देवावद, पुरुषवाद और तत्ववाद के अन्तर्गत रखा जाता है। वेदों में देववाद का स्वरूप बहुदेववादी है जो दो रूपों में देवाति देवबादी, बहुदेववाद या स्वतन्त्र बहुदेववाद और एकाधिदेववादी बहुदेववाद के रूप में मिलता है। इनमें से प्रथम के अनुसार अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले विभन्न देवों अर्थात् विभिन्न शक्ति शाली अति भौतिक व्यक्तित्वों को एक निमत्त कारण के रूप में जगत् के विभिन्न अंशों का उत्पादक, धारक एवं संचालक माना गया है।

बहुदेववाद के दूसरे एकाधिदेववादीय रूप के अनुसार देवों का बहुत्व तो प्रथम रूप के अनुसार माना गया है किन्तु उन्हें स्वतन्त्र सत्ता न मानकर उन्हें,

उनके एक विशिष्ट अधिदेव या अधिष्टिाता देव से अधिष्ठात माना गया है और इस अधिदेव को हो निमित्त कारण के रूप में सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक, धारक एवं संचालक माना गया है। पुरुषवाद एक अनन्त महामहिम व्यक्तित्व को सर्वेश्वर मानने के साथ ही अभिन्न निमित्तोपादन कारण के रूप में सम्पूर्ण जगत् का ऐसा मूल कारण बताता है जो अपने से सबकुछ को उद्भूत् कर सर्व-रूप या विश्वरूप हो जाता है। इस महामहिम व्यक्तित्व को देव न कहकर पुरुष कहा गया है। पुरुष् सूक्तों में इसी की अभिव्यक्ति हुई है।

तत्ववादी देव या पुरुष के समान किसी प्रकार के व्यक्तित्व को नहीं अपितु एक व्यक्तित्व विहीन परा सत्ता को सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र मूल कारण मानते हैं। परा सत्ता को किसी विशिष्ट रूप में निर्देश्य न मानकर समान्यतः तन्त्र कहा गया है। इसके प्रमाण नासदीय सूक्त सरीखे सूक्तों में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन शास्त्र का बीजारोपण मूलरूप से पुरुषवाद के उदय से होत्ता है और तत्ववाद के कालतक वह स्पष्ट दर्शन का स्वरूप धारण कर लेता है।

औपनिषदिक दर्शनः- तत्ववाद के सूत्रपात के साथ-साथ ही वैदिक परम्परा में पूर्व परम्परागत धारा, धार्मिक विचारधारा से स्वतंत्र तत्व चिन्तन की एक धारा चल पड़ी और मूल तत्व के स्वरूप के ज्ञान के लिए बहुत दिनों तक नये-नये अनुसंधानात्मक प्रयोग चलते रहे। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मन्त्र ब्रह्मणात्मक वाङ्गमय का विकास हुआ और इसका अन्तीम रूप से विकसित फल का दर्शन उपनिषदों के ब्रह्म तत्व निरुपण में होता है। वेदों के अन्त अर्थात् अंतिम निष्कर्ष या सिन्द्धात का प्रतिपादन करने के कारण ही उपनिषदों का एकनाम वेदान्त भी है। यह दर्शन भारत-वर्ष का प्रतिनिधिभूत राष्ट्रीय दर्शन है।यह दर्शन जहाँ आपने उच्च और महनीय सिद्धान्तोंके आधार पर विश्व के दार्शनिक क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखताहै वहाँ भारतवर्ष में अतिप्राचीनकाल से एक परम्परा प्राप्त राष्ट्रीय दर्शन के रूप में भी सम्मान प्राप्त करता रहा है।

इतना होते हुए भी औपनिषद दर्शन ऐसा पूर्ण स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष

दर्शन नहीं है कि उसके सब सिद्धान्त केवल उपनिषदों की ही देन के रूप में मौलिक सिद्धान्त स्वीकार किए जाँय। इसलिए उसमें समस्त मंत्र ब्राह्मणात्मक श्रुति वाङगमय की आधारभूत मूल विचारधारा का विकसित एवं पूर्व परम्परा प्राप्त रूप का दर्शन होता है। उदाहरण के लिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म आदि के रूप में अभिव्यक्त विचार पहले से ही ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में "पुरुष एवेदं सर्वं" के रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार 'तदात्मानं स्वयं कुरुत' आदिके रूप में अभिव्यक्त होनेवाला अभिन्ननिमित्तोपादन कारण वादी सिद्धान्त पहले से ही ऋग्वेद के "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्यसीदत् पिता नः", "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः", "हविषि स्वाधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः आदि के रूप में वैदिक परम्परा में स्थापित था।

इतना होते हुए भी औपनिषद दर्शन के मौलिक देन के रूप को स्पष्टतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मोलिक स्वरूप में औपनिषद दर्शन ने निम्नलिखित तत्वों का प्रतिपादन किया:-- (अ) मूल तत्व का स्वरूप (आ) मूल तत्व केसाथ आध्यात्मिक संबंध (इ) मूल जिज्ञासा शांति एवं (ई) प्राप्ति के साधन।

औपनिषद् दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त:-- औपनिषद दर्शन के पूर्व परम्पगत जो सिद्धान्त हैं वे संक्षेप में निम्नवत् हैं:--

(अ) जगत् का सत्यत्व:-- जगत् की सत्यता को वैदिक दर्शन ने भी स्वींकार किया है, वेदान्त भी स्वीकार करता है। जिस प्रकार वेद वाङगमय में कहीं भी जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित नहीं है उसी प्रकार उपनिषदों में भी संशोधन नहीं किया गया है। वहाँ 'सदेव सोम्येदग्र आसीत्' इत्यादि के रूप में यही घोषणा की गई है कि जिस प्रकार यह दृश्यमान जगत् पहले भी सत् था वैसे ही इस समय भी सत् है।

(आ) जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म:- उपनिषद दर्शन भी मूल तत्व को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण कहता है। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' यह मूल तत्व यहाँ सत् एवं ब्रह्म आदि अनेक शब्दों के द्वारा अभिहित किया गया है किन्तु इसका मुख्य अभिधान ब्रह्म है।

(इ) ब्रह्म का स्वरूप:- उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म अन्तीम सत् और अनन्त है। यह ज्ञानस्वरूप नित्य आत्म तत्व है। सबका परम आत्मा है और परमात्म तत्व भी है। समस्त जड़ जीवात्मक ब्रह्मत्मक है।

(ई) जीव का स्वरूप:- उपनिषदों में जीव नित्य, अणु, ज्ञानस्वरूप एवं स्वभाविक रूप से ज्ञानयुक्त अत्मातत्व कहा गया है। यह ब्रह्म से स्वरूपत: भिन्न है किन्तु ब्रह्म के सर्वव्यापी होने के क रण यह भी ब्रह्ममय है।

(उ) जीव का परम लक्ष्य :- जीव का परम लक्ष्य अज्ञान मूलक जन्म मरणात्मक संसार से जिसमें कि वह अनादि काल से पड़ा हुआ हैं मुक्ति है। इस प्रकार उसे अपने स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति और ब्रह्म की प्रप्ति होती है। यह स्वस्वरूपावाप्ति पूर्वक ब्रह्म प्राप्ति उपनिषदों में अमृतत्व के रूप में वर्णित है जो वेदों में अभिलषित चिर-काल पर्यन्तप्राण धारण रूप साधारण अमृतत्व से अत्यन्त उत्कृष्ट है।

(ऊ) परम लक्ष्य का साधन:- स्वस्वरूपावाप्त पूर्वक ब्रह्मप्राप्ति का परम लक्ष्य का साधक एकमात्र स्वस्वरूपज्ञानपूर्वक ब्रह्म ज्ञान ही है। यह ब्रह्म ज्ञान "अहं ब्रह्मास्मि" एवं 'तत्त्वमसि" आदि के रूप में अपने आत्मा या अन्त-र्यामी परब्रह्म के साथ अपने ऐसे आध्यात्मिक तादात्म्य का साक्षात् अनुसं-धान है जिसमें अपना स्वरूप निर्मण होते हुए स्पष्टत: ब्रह्मात्मक रूप में अनु-भूत होता है। इस ब्रह्मज्ञान के साधन श्रवण् मनन, निदिध्यासनादि हैं और कर्म इनका सहकारी है। औपनिषद् दर्शन की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह कर्तव्य कर्मों के परित्याग का उपदेश नहीं करता है।

यह उपनिषद दर्शन परवर्ती काल में अनेक दर्शनों का उपजीव्य रहा है। आश्यरथ, औडुलोमि, कासकृत्स्न, बादरायण आवि अनेक आचार्यों ने इस दर्शन की मीमांसा एवं व्याख्या की है। गीतादर्शन की स्थापना भी इसी आधार पर हुई है। आचार्य बादरायण ने इस दर्शनकी सोपपत्तिक एवं सम न्वयात्मक मीमांसा कर एक उपपन्न एवं समन्वित दर्शन वेदान्त दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है। शंकर, रामानुज, निम्बार्क एवं बल्लभ आदि विभिन्न भष्यकार आचायों ने उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में से दोनों के या किसी एक

के भाष्य प्रस्तुत कर इस दर्शन को अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत एवं शुद्धाद्वैत आदि विभिन्न रूपों में प्रदर्शित किया है जिनमें से शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत वेदान्त ही इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य विषय है।

चार्वाक दर्शनः- जैसा कि उपर हम लिख चुके हैं कि चार्वाक प्रत्यक्षवादी दर्शन है। इसका सभी दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में उपयोग किया गया है। इससे यह अनुमान होता है कि भारतीय दर्शनों में यह सबसे प्राचीन है। वस्तुतः चार्वाक दर्शन प्राकृत पुरुष की स्थूल दृष्टि का प्रतिफल है जिसके लिए किसी भी प्रकार के चिन्तन, मनन औरध्यान तथा आस्था, श्रद्धा तप, व्रत एवं संयम-नियम की भी आवश्यकता नहीं है। प्रारम्भिक दर्शन होने के कारण इसकी उत्पत्ति के लिए कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसके लोकायत नाम से यह ज्ञात होता है कि यह दर्शन पहले लोगों में अधिक प्रचलित था। इसके लोकायत नाम पड़ने केविषय में माध्वाचार्य का मत है कि चार्वाक का मत ऐसा है जिसे अति स्थूल दृष्टिरखने वाले प्राणी भी मानते हैं। माध्वाचार्य के मत में "यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

इति लोकगाथाम् अनुरुंधाना नीतिकाम शास्त्रानुसारेण अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ मन्यमानाः, पारलौकिकमर्थम् अपह्नुवानाः चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते। अत एव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम अपरं नामधेयम्।

अर्थात् संसार के सभी प्राणी चार्वाक के इस वचन के अनुसार ही चलते हैं कि जबतक जीवन रहे सुख से जीना चाहिए क्योंकि मृत्यु की आँखों से कोई नहीं छूटता और देह के जलजाने के बाद फिर दुबारा सुख भोगने के लिए फिर कोई कैसे आ सकता है? इस प्रकार सभी लोग नीतिशास्त्र और कामशास्त्र के अनुसार धनसंग्रह और भोग विलास को ही पुरुषार्थ समझते हैं। परलोक की बात को उपेक्षित कर देते हैं। इनके इस कथन से ज्ञात होता है कि यह दर्शन अत्यन्त प्राचीनकालीन समाज में ही प्रचलित था जबकि पुरुषार्थ के रूप में धर्म और मोक्ष की प्रतिष्ठा समाज में नहीं थी।

विद्वानों का कहना कि ऋग्वेद में भी इस मत की चर्चा है तथा वृहदारण्यक उपनिषद के याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के वार्तालाप के प्रसंग में एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्एवानुविनश्यति स न प्रैत्यसंज्ञास्तीति (वृ० २-४-१२) चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता है जोकि मृत्यु के बाद विनष्ट हो जाता है। वह चार ही तत्वों को मानता है। इन्हीं चार तत्वों से सृष्टि का प्रादूर्भाव और विनाश मानता है। यथा- तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः - विज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, स न प्रेत्य संज्ञास्तीति (वृ० उप० २।४।१२)। तच्चैतन्यविनष्टदेह एवात्मा देहातिरिक्ते आत्मानि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैकप्रमाणदितया अनुमादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्।

कठोपनिषद भी इसी प्रकार का मत रखता है। उसके अनुसार येयंप्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैकेक (कठ० १।१।२०।)। अर्थात् परलोक के बारे में मनुष्यों में दो मत पाये जाते हैं। कुछ कहते हैं कि परलोक है और दूसरे कहते हैं कि नहीं है।

इस दर्शन के प्रवर्तक आचार्य वृहस्पति माने जाते हैं। वृहस्पति रचित सूत्रों का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य तथा भाष्करभाष्य में भी उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों में चार्वाक दर्शन के निम्न आठ सूत्र मिलते हैं-

१. पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि।
२. तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।
३. तेभ्यश्चैतन्यम्
४. किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
५. मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
६. चैतन्यविशिस्टः कायः पुरुषः।
७. काम एवैकः पुरुषार्थः।
८. मरणमेवापवर्गः।

उक्त आठ सूत्रों के आधार पर चार्वाक दर्शन की प्रमुख मान्यतायें इस

प्रकार हैं- प्रमाण मीमांसा- इस दर्शन में केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानागया है। अनुमान आदि अन्य प्रमाणों को मान्यता नहीं दी गयी है। इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत्य है शेष सब परोक्ष पदार्थ जिनकी सिद्धि अनुमान एवं शब्द प्रमाणों से होती है असत् हैं। यह दर्शन जगत् में कार्य कारण-भाव को नहीं मानता। इसका कहना है कि सुख और दु:ख का कारण धर्म-अधर्म नहीं अपितु मानव स्वभाव ही है। जगत् की उत्पति एवं विनाश का भीमूल स्वभाव ही है। प्रत्येक कार्य स्वभाव से ही उत्पन्न होता है।

तत्व मीमांसा:- यह दर्शन पृथ्वी, जल, तेज और वायु केवल चार पदार्थ को ही मानता है और इन्हीं के सम्मिलित रूप से बाह्य जगत्, इन्द्रियाँ एवं भौतिक शरीरादि बिना किसी कारण के अकस्मात् ही स्वभाववश उत्पन्न होते हैं। ईश्वर को वह सृष्टि का निमित्त कारण नहीं मानता क्योंकि वह अनुमान गम्य है। इस मत में शरीर ही आत्मा है और वह भी शरीर के साथ ही नष्ट होजाता है इसलिए नित्य पदार्थ नहीं है। चेतना भौतिक परिणाम है। मूल चेतना भौतिक पदार्थों के सम्मिश्रण से इसी प्रकार उत्पन्न होती है जैसे पान, कत्था, चूना आदि के एक विशेष रूप में सम्मिश्रण से लालिमा और एक अपूर्व स्वाद उत्पन्न हो जाता है। चेतना के भौतिक पदार्थों के सम्मिश्रण का फल होने के कारण ही मैं काला हूँ, स्थूल हूँ आदि प्रयोग शरीर के लिए ही चलते हैं। इन प्रयोगों में मैं पदवाच्य शरीर ही है। इनसे व्यतिरक्त आत्मा जैसा कोई पदार्थ नहीं।

आचार मीमांसा:- प्राय: सभी अन्य दर्शन पुरूषार्थ के रुप में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को मान्यता देते हैं, किन्तु चार्वाक दर्शन एकमात्र काम को ही महत्व देता है। अर्थ काम का सहायक है किन्तु धर्म और मोक्ष को यह अनावश्यक मानता है क्योंकि ये प्रत्यक्ष नहीं। धर्म, कर्म, तप, पूजा, पाठ, ईश्वर, स्वर्ग, परलोक आदि बातें कपोल कल्पित एवं गल्प हैं। इसके लिए शारीरिक कष्ट उठाना एवं प्रयत्न करना व्यर्थ है। शरीर का विनष्ट होना ही मोक्ष है। मरने के अतिरिक्त मोक्ष ओर कुछ नहीं। मृत्यु सबको अपने आप मिलती है

अतः उसके लिए कोई प्रयत्न करना भी व्यर्थ है। स्वर्ग और नरक जैसा कोई स्थान नहीं है जहां मरने के बाद किसी को जाना होता है। मरने के बाद शरीर के पृथिव्यादि तत्व अपने अपने तत्वों में मिल जाते हैं। कुछ भी शेष नहीं रहता जो स्वर्ग या नरक में जाए। यह दर्शन वेदों एवं वैदिक क्रियाओं को बुद्धि एवं पौरुष हीन लोगों की जीविका का साधन मानता है। यथा वृहस्पति वचनम्

१. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकः॥
२, अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता॥
३. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
४. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्॥

विष्णु पुराण में भी चार्वाक के मत का इसी प्रकार वर्णन मिलता है। यथा:-

नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम्॥
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः॥
निहितस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते?
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः॥

अर्थात् हिंसा से भी धर्म होता है यह बात किसी भी प्रकार युक्ति द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। अग्नि में हविष्य को जलाने से कोई फल होगा यह भी बच्चों की बात है। अनेक यज्ञों के द्वारा देवत्व का लाभ होगा और

देव बनकर भी यदि शमी काष्ठ का ही भोजन करना है तो इससे अच्छा पत्ते खानेवाले पशु का जीवन ही अच्छा है। यदि यज्ञ में बलि किए जानेवाले पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान को चाहिए कि अपने पिता को पहले बलि देदें। यदि किसी अन्य पुरुष के भोजन करने से किसी अन्य पुरुष की तृप्ति हो सकती है तो विदेश यात्रा के समय खाद्य पदार्थ ले जाने का परि-श्रम क्यों उठाते हैं क्योंकि पुत्रगण घर पर ही उनके निमित्त श्राद्ध कर दिया करेंगे।

जैन दर्शनः- जैन मत बौद्ध मत से पहले का है। जैन मतावलम्बियों के अनुसार यह मत अति प्रचीन है। इसकी अभिव्यक्ति समय-समय पर होने वाले तीर्थंकरों के द्वारा होती रहती है। श्री महावीर स्वामी इस मत के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं। तेइसवें तीर्थंकर श्री पर्श्वनाथ थे। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवथे जिनका वर्णन भागवत पुराग में प्राप्त होताहै। श्री पार्श्व नाथ श्री महावीर स्वामी के माता पिता के गुरु थे। इनका जन्म महावीर स्वामी के जन्म से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व तथा ईसा से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व हुआ था। ये काशी के अधिपति अश्वपति की रानी वामा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। तीस वर्ष की अवस्था में हीं राज्य छोड़कर घोर तप करके कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया तथा जिन (विजयी, राद्वेषादि पर विजय प्राप्त करने वाला) की उपाधि प्राप्त किए। सत्तर वर्ष तक धर्म प्रचार किए। तीर्थंकर महावीर स्वामी के पिता सिद्धार्थ तथा माता त्रिशला भी जैन थे। इनकी राजधानी वैशाली थीं। महावीर स्वामी का जन्म ईसा पूर्व षष्ठ शता-ब्दी में हुआ था। इनका पैतृक नाम वर्धमान था तथा तीस वर्ष की अवस्था में वे भी वीतराग होकर तपस्वी हो गए और पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर बयालीस वर्ष तक धर्म प्रचार किया और बहत्तर वर्ष की आयु में मोक्ष प्राप्त किया।

जैन मत के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं- दिगम्बर एवं श्वेताम्बर। दोनोंही अपनी गुरु परम्परा श्री महवीर स्वामी से हीं मानते हैं। दोनों का प्रारम्भ ईसा पूर्व द्वितीय शतक में हुआ। तत्वज्ञान की दृष्टि से दोनों में पार्थक्य है। दिगम्-बर सम्प्रदाय जहाँ धार्मिक नियमों की कठोरता से पालन का आदेश देता है

वहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानव कमजोरियों को देखते हुए उतनी धार्मिक कठोरता नहीं रखता। जैन मतावलम्बी भी चार्वाक की भाँति वेद विरोधी हैं। लेकिन ये आप्तवचन या शब्द को प्रमाण मानते हैं। इनके आप्त पुरुष भी तीर्थंकर ही होते हैं। जिनके वचन जैनागमों में संग्रहीत हैं आगम प्रमाण के अतिरिक्त जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण भी मान्य है।

जैनागम कीसंख्या पैंतालिस मानी गयी है। ये आगम पहले अर्धमागधी में लिखे गये हैं किन्तु बाद में इसका रुपान्तर प्राकृत एवं संस्कृत में हुआ। जैन दर्शन के प्राचीनतम लेखक उमा स्वाति थे जिनका तत्वार्थ सूत्र या तत्वार्थाधिगम सूत्र नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। दूसरे आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य और तीसरे समन्तभद्र माने जाते हैं। समन्तभद्र योगी होने के साथ-साथ ही उच्च कोटि के तार्किक एव धर्मशास्त्री भी थे। इनकी प्रसिद्ध रचना आत्म मीमांसा है। मध्ययुग में सिद्धसेन, दिवाकर, हेमचन्द, गुणरत्न आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हुए हैं।

जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है। इस मत के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मों से युक्त है। इन अनन्त धर्मों का साक्षात्कार मनुष्य साधारणतया नहीं कर सकता। साधारण मनुष्य को वस्तु का आंशिक या सापेक्ष ज्ञान ही प्राप्त होता है अतः वह अपने इस ज्ञान के आधार पर यह नही कह सकता कि वस्तु ऐसी ही है। यदि वह ऐसा कहता है तो उसका यह कथन परामर्श या प्रमाण की कोटि में न आकर दुर्णय की कोटि में चला जायगा क्योंकि उसके इस कथन या परामर्श में वस्तु के ऐसे धर्मों का अपलाप कर दिया गया है जोकि उसे ज्ञात नहीं हुए किन्तु वस्तु में वर्तमान हैं। यदि यह कहा जाता है कि वस्तु ऐसी है तो इसमें केवल धर्मों का ही कथन होता है। किन्तु साथ ही अज्ञात धर्मों का पूर्व कथन का अपलाप नहीं किया जाता। इस प्रकार का कथन परामर्श नय की कोटि में आता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण की कोटि में वही कथन आ सकता है जिसमें वस्तु के ज्ञात और अज्ञात सभी धर्मों का समावेश हो इसलिए यह सिद्धान्त अविष्कृत किया गया कि वस्तु के प्रत्येक कथन या परामर्श के पूर्व स्यात् पद

जोड़कर उसके द्वारा यह प्रकट किया जाय कि वस्तु सम्भवतः ऐसी है । ऐसा कहने से वस्तु के ज्ञात एवं अज्ञात सभी धर्मों का समावेश हो जाता है और वह प्रमाण की कोटि में आ जायेगा । इस मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेक परिणामी है अर्थात् उसे ऐसा नहीं माना जा सकता कि वह ऐकान्तिक रूप से ऐसा ही है ।

जन मत में प्रमुखतः दो प्रकार के तत्व माने जाते हैं जीव और अजीवा इनमें जीव, चेतन एवं मध्यम परिमाण वाले अर्थात् देह के परिमाण के समान परिमाण वाले हैं । अजीव पदार्थों में अणु रूप एवं संघात् रूप पुद्गल मुख्य है । यह जगत् मुख्यतः अणु रूप पुद्गलों के संघात् के रूप में अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा । सृष्टि और प्रलय की कल्पना कोरी कल्पना ही है । इस मत में सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य रत्नत्रय के रूप में मोक्ष के साधन हैं । सिद्ध शिला की प्राप्ति ही मुक्ति है जहाँ परम शांति की अनुभूति होती है ।

बौद्ध दर्शनः- प्रायः अनेक विज्ञानों की मान्यता है कि बौद्ध मत से पूर्व ही सांख्य एवं योगदर्शन संबंधी दार्शनिक विचार समाज में इतस्ततः बिखरे हुए रूप में प्रचलित थे और उनके जीवन में योग का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है । इतना होते हुए भी सांख्य एवं योग दर्शन बुद्ध के बाद ही क्रमिक दर्शन के रूप में व्यवस्थित हुए हैं । इसलिए इन्हें बुद्ध के पूर्ववर्ती नहीं कहा जा सकता । जैनदर्शन अवश्य बुद्ध से प्राचीन है क्योंकि बौद्ध निकायों में अंतीम जैन तीर्थंकर नाढपुत्त का उल्लेख है । बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थ पालि भाषा में निबद्ध त्रिपिटक के नाम से विख्यात है । ये त्रिपिटक सूत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्म पिटक हैं । दार्शनिक दृष्टि से सूत्तपिटक मुख्य है। सूत्तपिटक के पाँच निकाय हैं- दीघ्घ निकाय, मज्झिम निकाय संयुक्त निकाय, अगुत्तर निकाय, और खुद्दक निकाय । खुद्दक निकाय में पन्द्रह प्रकार हैं जिनमें धम्मपद, जातक, बुद्ध-वंश और चर्यापिटक प्रमुख हैं । अभिधम्म में सात संग्रह हैं । इन्हीं में एक कथावस्तु भी है। ये सभी ग्रन्थ पालि भाषा में हैं । आगे चलकर बौद्धाचार्यों ने संस्कृत में भी पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना

की। अन्य दार्शनिकों ने प्रायः इन्हीं संस्कृत ग्रन्थों से बौद्ध सिद्धान्तों को उद्धृत किया है।

पालि भाषा में निबद्ध प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में जिन आचार विचारों का संग्रह है उन्हें थेरवाद; स्थविरवाद या वृद्ध-बौद्धवाद कहा जाता है। संस्कृत भाषा में लिखित बौद्ध ग्रन्थों के प्रचलन के पश्चात् स्थविरवाद, हीनयान में बदल गया। बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख भेद माने जाते हैं- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक। इनमें से वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक हीनयान शाखा के हैं और योगाचार एवं माध्यमिक महायान शाखा के हैं।

बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्त.- बौद्ध दर्शन में दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध, दुःखनिरोधमार्ग ये चार आर्यसत्य हैं जो भगवान बुद्ध देव के तपस्या जन्य ज्ञान, अनुभव, चिन्तन और मनन के परिणाम हैं। संसार में सभी प्राणी प्रायः किसी न किसी प्रकार के दुःख से दुःखी हैं इसलिए यह संसार दुःख का घर है। सामान्य जन जिसे सुख कहते हैं वह क्षणिक है, शाश्वत नहीं। इसलिए विष मिश्रित अन्न के समान यह क्षणिक सुख त्याज्य है। भगवान बुद्ध ने इन दुःखों का कोई न कोई कारण भी अवश्य माना है क्योंकि बिना कारण के कोई दुःख हो नहीं सकता। जैसे जरा और मरण का कारण जन्म लेना है। यदि जन्म न हो तो जरा मरण का प्रश्न ही न हो। अतः यह दुःख कारण-सापेक्ष है और इन समस्त दुःखों का मूल कारण अविद्या है। अविद्याजन्य दुःखों को बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद्य नाम दिया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद्य में बारह अंगों में दुःखों के कार्य-कारण की शृंखला बतायी गयी है। प्रतीत्यसमुत्पाद्य सिद्धान्त के अन्तर्गत जिन कारणों को दुःख का कारण बताया गया है उनका नाश ही दुःख का निरोध है। इसके लिए बुद्ध ने अष्टांग मार्ग बतलाया है जिससे दुःख का निरोध होता है। वे आठ मार्ग इस प्रकार हैं:-

सम्यक् दृष्टि :- अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में समझना ही यथार्थ ज्ञान है। यह संसार दुःखमय है और इसका कारण अविद्या है। इसका नाश विद्या से ही हो सकता है इस प्रकार का विचार मन में बनाये रखना ही सम्यक् दृष्टि है।

सम्यक् संकल्प:- अर्थात् सांसारिक पदार्थों को दु:खरूप समझकर निश्चयपूर्वक छोड़ने का संकल्प। इसके लिए विषयों के प्रति आसक्ति, राग द्वेष, हिंसा आदि का तन, मन और वाणी से परित्याग करना पड़ता है।

सम्यक् वाक्:- अर्थात् वाणी के उपर संयम रखना। एतदर्थ मिथ्या भाषण, परनिन्दा, परुष वचन आदि का परित्याग करने को बुद्ध ने कहा है। सम्यक् कर्मान्त:- अर्थात् सदा सत्कर्म में लीन रहना एवं जीव हिंसा, विषयासक्ति इन्द्रियासक्ति, स्तेय, दुराचार आदि से दूर रहना। सम्यक् आजीव:- अर्थात् विशुद्ध अजीविका या सत्कर्मों द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करना। सम्यक् व्यायाम:- अर्थात् दृढ़ प्रयत्न, उक्त सभी अंगों का आनेवाली कठिनाइयों से अविचलित रहकर दृढ़तापूर्वक पालन करना ही सम्यक् व्यायाम है। सम्यक् स्मृति:- ऐहिक पदार्थों एवं अंगों के परिचालन का सदा ध्यान रखना, जो जैसा है उसे उसी रूप में याद रखनाऔर तदनुसार आचरण करना ही सम्यक् स्मृति है।

सम्यक् समाधि - उपरोक्त सात अंगोंका पालन करने के बाद साधक विशुद्ध-चित्त हो कर सम्यक् समाधि या ध्यान योग के योग्य बनता है जिसकी चार अवस्थाओं का वर्णन इस दर्शन में मुख्य रूप से किया गया है।

महात्मा बुद्ध एक उच्च कोटि के दार्शनिक एवं परम ज्ञानी थे तथा अपने उपदेशों से उन्होंने मानव जीवन के परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। वे मानव स्वभाव की कमजोरियों को जानते थे इसलिए उन्होंने एक ऐसे मार्ग का उपदेश किया जो मानव का परम कल्याणकर सके। न तो वे केवल आचार पक्ष परही अधिक बल देते थे और न दार्शनिक पक्ष पर। उनका उपदेश था कि मानव को दोनों के बीच का मार्ग लेकर चलना चाहिए। इसीसे उसका कल्याण होगा। आचार पक्ष में उस समय दो पक्ष विद्यमान थे - सांसारिक सुखोपभोग और तपश्चर्या। बुद्ध ने उन दोनों के मध्य का मार्ग अपनाने को कहा जिसे बौद्ध दर्शन में मध्यमा प्रतिपदा के नाम से जाना जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद्य का सिद्धान्त मध्यमा प्रतिपदा का ही परिचायक है। एक दूसरे की अपेक्षा एक दूसरे की उत्पत्ति बताना ही प्रतीत्यसमुत्पाद्य है जिसे सापेक्ष कारणतावाद भी कहा जाता है। सभी दु:खों का मूल अविद्या को बताकर

द्वादश अंगों द्वारा उसका कार्य कारण -भाव बताते हुए अन्त में ज्ञान के द्वारा उसका नाश भी बता दिया गया है। बौद्ध दर्शन में कोई पदार्थ नित्य नहीं है। सभी परिवर्तनशील एवं क्षणिक हैं।

त्रिरत्न:- यद्यपि बुद्ध ने चार आर्य सत्यों के द्वारा निर्वाण प्राप्ति का बोध कराया है तथापि इन आर्य सत्यों की प्राप्ति तबतक संभव नहीं जबतक पूर्व विद्यमान कुत्सित भावनाओं का विनाश न हो जाय। इसके लिए कर्म की भी आवश्यकता होती है। कर्म द्वारा व्यक्ति सभी दुष्कर्मों से बचता है। उपनिषदों का ऋते ज्ञानान्न मुक्ति का सिद्धान्त बुद्ध को मान्य था। इसीलिए उन्होंने भी ज्ञान को महत्व दिया किन्तु बुद्ध के अनुसार शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तबतक सम्भव नहीं जबतक उसके धारण करने का सामर्थ्य शरीर में नहीं होता। इसलिए शुद्ध ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर की शुद्धि अत्यावश्क है। शारीरिक शुद्धि शील या आचरणद्वारा ही सम्भव है। बौद्ध धर्म में तीन साधन हैं जिन्हें शील समाधि; प्रज्ञा के रूप में त्रिरत्न कहा जता है।

शील का तात्पर्य सात्विक कर्म करना है। भिक्षु तथा गृहस्थ दोंनों के लिए बुद्ध ने कुछ साधारण सदाचार के नियम बनाये थे जिसका पालन करना प्रत्येक बौद्ध का धर्म था। ये आचरण अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना के रूप में पंचशील के नाम से विख्यात हैं। जो गृहस्थ और भिक्षु दोनों के लिए समान रूप से पालनीय हैं। इसके अतिरिक्त भिक्षुओंके लिए विशेष पंचशील का भी उपदेश है। वे हैं अपराह्ल भोजन, माला धारण, संगीत, सुवर्ण, रजत तथा महार्ण शय्या का त्याग करना। इस प्रकार भिक्षुओं के लिए दशशील का पालन करना पड़ता था। दीघ्घनिकाय के एकतीसवें सूक्त में गृहस्थाचार का विस्तृत प्रामाणिक वर्णन मिलता है। त्रिपिटक में यान द्वय का विधान है:- समय यान तथा विपस्सनायान। निर्वाण के लिए समाधि के स्वतन्त्र साधन रूप से अभ्यासी साधक समययानी कहलाता है। समाधि के अभ्यास करने का अन्तीम फल चित्तवृत्तियों का प्रत्यक्षानुभव है जिसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति कामसख्खी कहलाता है।

दूसरे रत्न समाधि से साधक तीन प्रकार की विद्याओं को प्राप्त करता है।

वे हैं पूर्वजन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी। सामन्चफलसूत्र में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त सहित सुन्दर वर्णन दिया गया है। समाधि के विषय में बौद्धों का कथन उपनिषदमूलक होने पर भी स्थल स्थल पर अनेक नवीन सूच--चनाओं से परिपूर्ण है।

प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है श्रुतमयी (आप्त प्रमाण जन्य निश्चय) चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) तथा भावनामयी (समाधिजन्य निश्--चय) समाधि से प्रज्ञा की प्राप्ति होतीहै और प्रज्ञा से निर्वाण की प्राप्ति। शील सम्पन्न श्रुति चिन्ता प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना का अधिकारी होता है। राजा अजातशत्रु से श्रमण्य फलों का विश्लेषण करते समय बुद्ध ने प्रज्ञा के फलों का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्य श्रोत्र, परिचित ज्ञान, पूर्व जन्म स्मरण, दीब्य चक्षु की उपलब्धि और दुःखक्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्तकामाश्रव, भवाश्रव तथा अविद्याश्रव से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इस प्रकार साधक निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार शील, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा चार आर्य सत्यों की सिद्धि होती है। बौद्ध दर्शन के विषय में आगे भी अवसर आने पर विचार किया जाएगा। यहाँ पर संक्षिप्त परिचय ही पर्याप्त है।

पूर्वचर्चित चार्वाक. जैन और बौद्ध दर्शनों के अतिरिक्त सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन भी भारत में प्रचलित रहे हैं। इनमें से वेदान्त दर्शन भारतीय राष्ट्रीय दर्शन रहा है जिसका संक्षिप्त संकेत पीछे दिया जा चुका है। शेष दर्शनों का संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दिया जा रहा है।

योगदर्शन

योग सिद्धान्त बहुत प्राचीन है और सभी दर्शनों ने इसे तत्व साक्षात्कार की उपलब्धि के साधन के रूप में स्वीकृत किया है। सबसे अधिक सांख्य योग दर्शन प्रभावित है। सांख्य शास्त्र दो प्रकार का माना जाता

है- निरीश्वर और सेश्वर। केवल सांख्य निरीश्वर सांख्य का बोध कराता है और सेश्वर सांख्य योग दर्शन का बोध कराता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां सांख्य दर्शन ईश्वरमें विश्वास नहीं करता वहां योग दर्शन ईश्वर को मानकर चलता है। इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन तत्व मीमांसा प्रधान है एवं योग दर्शन आचार मीमांसा प्रधान या साधन प्रधान है।

महर्षि पतञ्जलि ने योग के सिद्धान्तों को एक दर्शन के रूप में अपने सूत्रों द्वारा प्रस्तुत किया। इन योग सूत्रों को योग दर्शन, योग दर्शन सूत्र तथा पातञ्जल योग दर्शन आदि नामों से जानाजाता है। विद्वानों ने इन सूत्रों का समय ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी माना है। ये महर्षि पतञ्जलि व्याकरण के महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि से भिन्न माने जाते हैं। योग सूत्र चार पादों में विभक्त है। इसके ऊपर ई० की चतुर्थ शताब्दी में अचार्य व्यास ने एक भाष्य लिखा जो इस दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। यह व्यास भी महाभारत के प्रणेता व्यास से भिन्न हैं। व्यासकृत भाष्य के उपर आचार्य वाचस्पति की तत्व वैशारदी एवं विज्ञान भिक्षु की योगवार्तिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त राजा भोज की राज-मार्तण्ड नामक टीका भी महत्वपूर्ण है।

योग दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम या शब्द तीन प्रमाणों को मानता है। इसमें प्रमुख तीन तत्वों पर विचार किया गया है। वे तत्व प्रकृति, पुरूष एवं ईश्वर हैं। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है। प्रकृति सत्वादि गुण त्रयात्मक जड़ एवं विकारशील है। पुरूष उसके विपरीत निर्गुण चितस्वरूप एवं निर्विकार है। प्रकृति और पुरुष का अनादि संबंध है। प्रकृति से पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए जगत् की सृष्टि होती है और ऐसा होने में ईश्वर निमित्त कारण बनता है। उसी की अध्यक्षता में और उसी की ईच्छा एवं प्रेरणा से प्रकृति का जगत् के रूप मे परिणाम होता है। इस प्रक्रिया में मूलतः अव्यक्त प्रकृति व्यक्त रूप में परिणत हो जाती है। सत्व रजतमस् की साम्यावस्था ही प्रलय और वैषम्यावस्था सृष्टि है। प्रलय की अवस्था में प्रकृति

अव्यक्त रूप मे स्थित रहती है और सृष्टि की अवस्था में व्यक्त रूप में।

प्रकृति २३ तत्वों के रूप में होती है। ये २३ तत्व महतत्व, अहंकार, पाँच तन्मात्रा, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच महा भूत हैं। प्रकृति को मिलाकर चौबीस, पुरुष को मिलाकर पच्चीस एवं ईश्वर को मिलाकर छब्बीस तत्व माने गये हैं। योग दर्शन में ईश्वर ऐसा पुरुष विशेष है जो क्लेश, कर्म एवं आशयादि से अपरामृष्ट या पूर्णतया रहित है। वह सर्वज्ञ एवं सर्वेश्वर है। उसका ज्ञान एवं ऐश्वर्य निरतिशय है।

अनादि काल से पुरुष को प्रकृति का ज्ञान नहीं है। फलत: ज्ञान के अभाव में पुरुष अनादि काल से बन्धन में है। जब पुरुष को प्रकृति पुरुष विवेक रूप तत्व ज्ञान होता है तब उसे कैवल्य रूप मुक्ति प्राप्त होती है। इस विवेक को सत्वपुरुषान्यताख्याति भी भी कहते हैं। सत्व शब्द से सांख्य दर्शन में बुद्धि का ग्रहण किया गया है एवं योग दर्शन में चित्त का ग्रहण किया गया है। सत्वपुरुषान्यताख्याति रूप प्रकृति पुरुष विवेक का तत्वज्ञान और उसके द्वारा कैवल्य को प्राप्त करने के लिए चित्तवृत्तियों का निरोध ही मार्ग हैं जिसे योग कहा जाता है। अभ्यास और वैराग्य से चित्त वृतियों का निरोध हो सकता है। इस प्रकार अभ्यास के रूप में यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये आठ अंग हैं। समाधि तक पहुंचते पहुँचते चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध एवं प्रकृति पुरुष विवेक हो जाता हैं। ईश्वर प्रणिधान भी अभ्यास के ही अन्तर्गत है। प्रकृति पुरुष विवेक प्राप्त योगी को इस शरीर का पात होने पर कैवल्य रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में वह प्रकृति के बन्धन से विविक्त हो स्वस्वरूप में स्थित रहता है तथा सब प्रकार के दुःखों से पूर्णतः मुक्त रहता है।

वैशेषिक दर्शन

जिस प्रकार सांख्य और योग दर्शन समानतन्त्र के रूप में परस्पर पूरक माने जाते हैं, उसी प्रकार न्याय और वैशेषिक भी समानतन्त्र और परस्पर पूरक माने जाते हैं। इन दोनों दर्शनों में अन्तर इतना ही है कि न्याय दर्शन प्रमाण पर आधारित है और वैशेषिक दर्शन प्रमेय की मीमांसा में व्यस्त है।

वैशेषिक दर्शन के प्रथम आचार्य महर्षि कणाद माने जाते हैं । महर्षि कणाद का समय ई० से ४०० वर्ष पूर्व माना जाता है। कणाद के सूत्रों पर आचार्य प्रशस्तपाद ने एक भाष्य लिखा जो प्रशस्तपाद-भाष्य या पदार्थ-धर्म- संग्रह के नाम से विख्यात है। प्रशस्तपाद भाष्य- पर अनेक टीकायें लिखी गयींजिनमें ब्योमकेशी की व्योमवती, श्रीधर की न्याय-कन्दली और उदयनाचार्य की किरणावली अधिक प्रसिद्ध है।

वैशेषिक-दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायएवं अभाव के रूप में सात पदार्थ माने गये हैं। इनमें अभाव का समावेश बाद में किया गया है क्योंकि वह कोई भाव रूप पदार्थ नहीं है। इस दर्शन के द्वारा स्वीकृत विशेष नामक पदार्थ के नाम पर ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा।

पृथ्वी आदि पाँच भूत, दिक्, काल, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादि चौबीस गुण हैं, जो विभन्न द्रब्यों पर आश्रित रहते हैं। उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि पाँच प्रकार के कर्म माने गये हैं । अनेक समान पदार्थों में रहने वाले ऐसे पदार्थ को जो नित्य और एक है तथा जिसके आधार पर पदार्थों की एकता का अनुभव होता है, सामान्य कहा जाता है । नित्य द्रब्यों की परस्पर व्यावृत्ति का हेतुभूत पदार्थ विशेष है। समवाय एक प्रकार का सम्बन्ध है जो दो अयुतसिद्ध पदार्थों में होता है। अभाव चार प्रकार का माना गया है - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, और अन्योन्याभाव।

वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर की मान्यता का स्पष्टतः संकेत नही मिलता फिर भी बाद में ईश्वर का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है तथा आत्मा नामक द्रब्य को जीवात्मा और परमात्मा दो प्रकार का माना गया है। जीवात्मा का ज्ञान आगन्तुक है, स्वरूपानुबन्धित स्वाभाविक नहीं। जीवात्माओं के अदृश्य या ईश्वर की सृष्टि की ईच्छा के कारण पृथ्वी आदि भूतों के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होतें हैं जिसके फलस्वरूप उनका परस्पर संयोग होताहै तथा जिससे द्वयणुक आदि के क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है। तत्वज्ञान से जीवात्मा की मुक्ति होती है जो कि दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति के रूप में है। इस दशा में जीवात्मा अपने सन्मात्र स्वरूप में स्थित रहता है।

मीमांसा दर्शन

किसी भी विषय की मीमांसा या उस पर विचार करने की परम्परा भारत में अति प्राचीन काल से ही है, किन्तु दर्शन के रूप में इसकी प्रतिष्ठा आचार्य जैमिनि ने अपने मीमांसा सूत्रों के द्वारा की। इनके सूत्रों को पूर्व मीमांसा की संज्ञा दी जाती है। मीमांसा दर्शन को पूर्व मीमांसा कहा जाता है वहीं वेदान्त दर्शन को भी उत्तर मीमांसा के नाम से जाना जाता है । इससे स्पष्ट होता है कि दोनों दर्शनों में अभेद सम्बन्ध है। पूर्व मीमांसा या मीमांसा दर्शन मुख्यतया वेदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित है जबकि उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन उपनिषदों पर।

आचार्य जैमिनि के मीमांसा सूत्रों का प्रणयन काल ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इन सूत्रों पर शबर मुनि द्वारा लिखा गया शाबर भाष्य प्रसिद्ध है। इस भाष्य के तीन प्रमुख व्याख्याकार हुए:- कुमारिल, प्रभाकर एवं मुरारि। तीनों व्याख्याकारों के आधार पर तीन सम्प्रदाय चल पड़े और इस प्रकार इस दर्शन की साहित्य सम्पत्ति पर्याप्त रूप से समृद्ध हुई। कुमारिल के मत को भाट्टमत तथा प्रभाकर के मत को गुरु मत कहा जाता है।

मीमांसा दर्शन प्रमुख रूप से कर्म मीमांसा को प्रस्तुत करताहै और आचर मीमांसा प्रधान है। किसी वाङ्गमय में प्रतिपादित किसी विषय की किस प्रकार मीमांसा करनी चाहिए इस विषय में वैदिक परम्परा में जिस मीमांसा पद्धति का उद्‌भव हुआ उसके पर्याप्त विस्तृत रूप का निदर्शन मीमांसा सूत्रों में होता है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण माने गये हैं। भाट्टमत अनुपलब्धि नामक प्रमाण को भी मानता है। पहले यह दर्शन भी अनिश्वरवादी था किन्तु बाद में इस दर्शन में भी ईश्वर की सत्ता को मान लिया गया। जगत् की सृष्टि और प्रलय को यहाँ स्वीकार नहीं किया गया। इस मत में यह जगत् अनादि काल से अब-तक इसी प्रवाह में बना हुआ हैऔर आगे भी बना रहेगा। दूसरे शब्दों में यह जगत् प्रवाह के रूप में नित्य है शब्द भी नित्य है। वेदों को अनादि एवं

अपौरुषेय माना गया है। कर्म का फल अपूर्व नामक शक्ति के कारण यथा-समय स्वयं प्राप्त होता है। इस दर्शन में देव, जीवात्मा आदि को भी माना गया है। काम्य कर्मों के द्वारा जीवों का सर्वोच्च प्राप्य स्वर्ग है जो वेद विहित यागादि कर्मों के अनुष्ठान द्वारा साध्य है। निषिद्ध एवं काम्य कर्मों का परित्याग कर केवल नित्य एव नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। मोक्ष में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है किन्तु किसी प्रकार सुख की या आनन्द की अनुभूति नहीं होती।

भारतीय दर्शनों की पारस्परिक समानता:- भारतीय दर्शनों में पर्याप्त वैचारिक मतभेद होते हुए भी वातावरण में समानता होने के कारण अनेक सम्प्रदायों में, अनेक सिद्धान्तों में एकता दृष्टिगोचर होती है। सभी भारतीय दर्शनों की यह सबसे बड़ी विशेषता कि उनका उद्देश्य व्यावहारिक है। जन सामान्य के आधि व्याधि मिश्रित दैनिक जीवन से हटकर किसी काल्पनिक चगत् में वे विचरण नही करते। आपत्ति में पड़े प्राणियों को विपत्ति से मुक्ति दिला देना हो उनका प्रधान लक्ष्य है। भारतीय दर्शनों का उद्देश्य केवल मानसिक कौतुहल को हटाना ही नही अपितु ऐसा जीवन व्यतीत करना जो राग द्वेष से संयुक्त न होने के कारण नितान्त आदरणीय और स्पृहणीय हो। इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन समसामयिक जीवन के आध्यात्मिक असंतोष के उपर अवलम्बित है। वर्तमान से असंतोष और दिन प्रतिदिन की दुःखद घटनाओं से निराशा के द्वारा विचार शास्त्र का जन्म होता है। दुःख मय वर्तमान से असंतोष हुए बिना सुखमय भविष्य की कल्पना हो ही नही सकती इसलिए सभी भारतीय दर्शन इस मौलिक प्रश्न को लेकर ही आगे बढ़ते हैं। भगवान बुद्ध ने निरतिशय गाढ़ समाधि के बल पर जिन आर्य सत्यों को खोज निकाला वे समग्र सम्प्रदाय में समान रूप से मनानीय हैं। आचार्य व्यास और विज्ञानभिक्षु के शब्दों में अध्यात्मशास्त्र, चिकित्साशास्त्र की भांति चतुर्व्यूहात्मक है। जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में रोग, रोग निदान, आरोग्य तथा भैषज्य इन चार तथ्यों का यथार्थ निरुपण होता है उसी प्रकार अध्यात्म शास्त्र में दुःख, दुःख हेतु, मोक्ष; तथा मोक्षोपाय का व्याख्यान होता

है। इस जगत् के कार्य कलाप पर दृष्टि डालने पर सभी इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि यह संसार दुःखमय है तथा दुःख ही परम् सत्यभूत पदार्थ है। दूसरा सत्य दुःख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है। तीसरा सत्य दुःख का रोकना है और चौथा तथा अन्तिम सत्य इस दुःख के निरोध के मार्ग की व्याख्या है। भारतीय दर्शन इस दुःख को दूर करने का मौलिक उपाय ढूंढता है। भारतीय दर्शन में समान रूप से प्रत्येक सम्प्रदाय में वर्तमान दशा से यह असन्तोष प्रकट कर उसके सुधारने की प्रवृत्ति साधारण रूप से पायी जाती है। भारतीय दर्शन सदा से आशावादी रहा है, इसी लिए प्रायः यहाँ दुःखान्त नाटकों का अभाव पाया जाता है।

भारतीय दर्शन की दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था में विश्वास है। निराशा वाद थोड़ी देर के लिए भले ही जन मानस को दूषित करे किन्तु आशावाद की वैकल्पिक प्रवृत्ति इस कालिमा के बहुत शीघ्र धो डालती है। क्रांतिदर्शी कविजनों की दृष्टि में अव्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं अपितु सर्वत्र व्यवस्था ने अपना साम्राज्य जमा रखा है। जगत् व्यवस्था नर्तकी की मनोरम रंगशाला है जिसकी छोटी सी छोटी वस्तु भी यदृच्छा से प्रवृत्त नहीं होती। दिन के अनन्तर रात का आगमन, नित्य प्रातःकाल सुवणमयी रश्मियों को छिटकाती हुई पूर्व क्षितिज पर सविता का मंगलमय उदय तथा रात्रि के समय रजत रश्मियों का विस्तार करने वाले सुधाकर का अविर्भाव आदि इस व्यवस्था के अन्तर्गत ही हैं। ऋग् वेद के ऋषियों ने इस व्यवस्था को ऋत् की संज्ञा दी। ऋत् से ही सत्य की उत्पत्ति हुई। भारतीय दार्शनिकों ने इसी ऋत् के सिद्धान्त को अपने-अपने दर्शनों में भिन्न-भिन्न रूपों से अपनाया है। मीमांसा में ऋत् को अपूर्व और वैशेषिक में अदृष्ट के रूप में अपनाया गया है।

जगत् की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्म का सिद्धान्त है जिसे प्रत्येक दर्शन स्वीकार करता है। कर्म के फलों का नाश कदापि नहीं होता और जिस फल को हम वर्तमान में भोग रहे हैं वह पूर्वजन्म में किए गए कर्म का परिणाम है। कर्म बिना कारण के उद्भूत नहीं होने वाला है। कर्म सिद्धान्त को अंगीकार करने से मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के विकास के

लिए उसे पर्याप्त अवसर मिलता है। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति उपनिषद काल में हुई थी और सभी दर्शनों ने इसे वहीं से ग्रहण किया है।

संसार के जितने बन्धन हैं उनका एकमात्र कारण अविद्या है। अविद्या से ही इस जगत् में जन्म मरण हुआ करता है तथा नाना प्रकार के क्लेश होते हैं यह सिद्धान्त भारतीय दर्शनों में समान रूप से मान्य है। अविद्या के निरुपण में भी सर्वत्र एकता है। योग सूत्रों के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि. सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या कहलाता है। यह अविद्या ही अन्य समस्त अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश क्लेशों को जन्म देती है। ज्ञान ही मुक्ति का एकान्त उपाय है।

भारतीय दर्शनों में केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति ही ध्येय नहीं है अपितु उसका उपयोग व्यावहारिक जगत् के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक संतापों से सदा के लिए प्राणिमात्र को छुटकारा दिलाना है। जैन धर्म का तीर्थंकर शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। तीर्थंकर का अर्थ होता है नदी के उस पार जाने के लिए मार्ग का निर्माण कर्त्ता। साधन मार्ग के उपदेशक आचार्य गण इस अधि व्याधि पूरित भवसागर से पार जाने के लिए साधनाभूत तत्वज्ञान की साधना का उपदेश देते हैं। मनुष्यमात्र का जीवन जिन ध्येयों को आगे रखकर प्रवृत्त होता है उन्हें पुरुषार्थ कहते हैं। भारतीय दर्शन में ये चार प्रकार के माने गये हैं जिनमें- मोक्ष ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मोक्ष के विषय में अनेक मत पाये जाते हैं। कुछ मोक्ष को इसी जन्म में संभव मानते हैं और कुछ इस जन्म के अनन्तर। जैन, बौद्ध तथा वेदान्तादि षणदर्शन जीवन मुक्ति को ही जीवन का लक्ष्य बताते हैं। विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव दर्शनों में भी यद्यपि जीवन मुक्ति- का आदर्श मान्य नही है, तथापि तत्वज्ञान के साधन से आत्मा ऐसी उन्नति अवस्था में पहुँच जाती है जहाँ जीवन का उद्देश्य साधारण कोटि से बदलकर एक महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष की प्राप्ति के विभिन्न उपायों में एक विचित्र एकता का भाव दृष्टिगोचर होता है। विचारशास्त्र सिद्धि के द्वार तक पहुँचकर विरत हो

जाता है। इस द्वार के भीतर प्रवेश के लिए साधन की नितान्त आवश्यकता है। दर्शनशास्त्र उज्वल प्रकाश की किरणों को दिखाकर हमारे लिए मार्ग की सूचना देता है किन्तु शुष्क ज्ञान हमें लक्ष्य प्राप्ति में कथमपि सहायता नहीं दे सकता। इसके लिए आवश्यक है कि काल्पनिक तत्व ज्ञान को व्यावहारिक रूप में परिणत किया जाय। योगसूत्रों ने यह कार्य सर्व प्रथम किया और अन्य दर्शनों ने उसको स्वीकार किया। बौद्ध दर्शन समाधि विशिष्ट साधन मानता है। जैन धर्म सम्यक् चारित्र्य के लिए यम, नियम तथा ध्यान को अधिक महत्व देता है। न्याय दर्शन में यौगिक प्रक्रियायें आत्म साक्षात्कार के लिए अत्यावश्यक मानी गई हैं। इसप्रकार भारतीय दर्शनों के विभिन्न सम्प्रदाय यह प्रकट करते हैं कि वह लकीर का फकीर नही है बल्कि अपनी बुद्धि से नये नये तत्वों की मीमांसा करने में समर्थ है।

द्वितीय अध्याय

अद्वैतवाद-उद्भव एवं विकास

अद्वैत वेदान्त के स्वरूप को समझने से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय दर्शन वेदान्त के बारे में ज्ञान कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि नाम से ही यह प्रतीत होता है कि अद्वैत वेदान्त, वेदान्त की ही एक शाखा है। वेदान्त दर्शन के विषय में पिछले अध्याय में ही यह कहा जा चुका है कि इसका मूल उद्गम वेद औरब्राह्मण ग्रन्थ हैं। पिछले अध्याय में ही उपनिषदों को वेदान्त कहा गया है। ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों को समन्वयात्मक मीमांसा करके दार्शनिक सिद्धान्तों को एक सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया जो आगे चलकर वेदान्त दर्शन के रूप में प्रचलित हुआ। वेदान्त दर्शन का मूल ऋृवेग्द के पूर्व भी कुछ लोग मानते हैं क्योंकि ऋग्वेद में बेदान्त के सिद्धान्तों का वर्णन हुआ है। किन्तु केवल सूत्रों के उल्लेख मात्र से ही दर्शन को ऋग्वेद से पूर्व का सिद्ध करना एक भारी भूल ही होगी। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के अन्तिम रचनाकाल में दार्शनिक विचारधारा का सूत्रपात हो चुका था। सम्भवतया वेदान्त शब्द का यह भी अर्थ हैकि इसकाबीज मंत्रात्मक वेदों के रचनाकालक्रम से अन्तिम भाग में उद्भूत हुआ। ऋग्वेद में उद्धृत 'आनीद वातं स्वधया तदेकं' आदि के रूप में दार्शनिक तत्वादि के साथ वैदिक परम्परा में पूर्वपरम्परागत देववादी धार्मिक धारा से स्वतन्त्र तत्त्व चिन्तन की एक धारा चल पड़ी और मूल तत्त्व के स्वरूप के परिज्ञान के लिए सुदीर्घ काल तक अनुसन्धानात्मक प्रयत्न चलते रहे। तत्व चिन्तन की प्रगति के साथ ही साथ औपनिषद दर्शन में दो वर्ग उपस्थित हुए। एक तो देववादी या कर्म-वादी दूसरा ब्रह्मवादी। एक वर्ग के पोषक उपनिषद छान्दोग्य, वृहदारण्यक एवं तैतरीय हैं। दूसरे वर्ग के पोषक कठ, मुण्डक आदि उपनिषद हैं। इस प्रकार वेदान्त का वास्तविक उद्भव प्राचीन उपनिषदों में ही हो पाता है।

कालान्तर में उपनिषदों के सिद्धान्तों में आपाततः विरोध के परिहार करने की तथा एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिए बादरायण ब्यास ने ब्रह्मसूत्रों का निर्माण किया। ब्रह्म

सूत्र में लगभग ५६० सूत्र माने जाते हैं। यह ब्रह्मसूत्र समस्त वेदान्त सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ कहा जाता है जिसकी अपनी दृष्टि से विस्तृत व्याख्या करके बाद के आचार्यों ने अपने धार्मिक मतों की भव्य प्रतिष्ठा की है तथा विपुल यश अर्जन किया है। इन सूत्रों का उदय काल अत्यन्त प्राचीन है। भिक्षुओं और सन्यासियों के लिए ही प्रारम्भिक काल में इन सूत्रों के उपादेय होने के कारण प्रारम्भ में इन्हें भिक्षु सूत्र भी कहा गया है। महर्षि पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में जिन पाराशरय भिक्षु सूत्रों का नाम्मोलेख किया है वे पराशर के पुत्र महर्षि बादरायण ब्यास के द्वारा विरचित प्रकृत बह्मसूत्रों से भिन्न नहीं प्रतीत होते।

श्रीधर स्वमी की सम्मति में गीता भी 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमदभिविनिश्चिते' पद्यांश में ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का निर्माण काल विक्रम के पूर्व षष्ठ शतक से बाद का कथमपि नहीं माना जा सकता। तर्कवाद में सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद में विज्ञान वाद के खण्डन उपलब्ध होने पर भी इस सिद्धान्त को कोई हानि नहीं पहुंचती क्योंकि भारतीय विचारधारा के इतिहास में ये मत बुद्ध से भी अधिक प्राचीन हैं। असंग आदि बौद्धों ने नवीन ग्रन्थों का निर्माण कर केवल इनका ब्यवस्थापन मात्र किया है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में वह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकारों की सूची निम्नवत् काल क्रम में दी है।-

संख्या	नाम	भाष्यनाम	सिद्धान्त
१	शंकर (७८८-८२०ई०)	शारीरक भाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२.	भाष्कर [१०००]	भाष्कर भाष्य	भेदाभेद
३.	रामानुज [११४०]	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत
४.	मध्व [१२३८]	पूर्णप्रज्ञ भाष्य	द्वैत
५.	निम्बार्क [१२५०]	वेदान्त-पारिजात	द्वैताद्वैत
६.	श्री कण्ठ [१२७०]	शैवभाष्य	शैव-विशिष्टाद्वैत
७.	श्रीपति [१४००]	श्रीकरभाष्य,	वीरशैवविशिष्टाद्वैत
८.	वल्लभ [१४७९-१५४४]	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत

९. विज्ञान भिक्षु [१६००] विज्ञानामृत अविभागा द्वैत
१०. बलदेव [१७२५] गोविन्द भाष्य अनित्य भेदाभेद

आचार्य शंकर से पूर्व भी ब्रह्मसूत्र एवं प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता)के उपर भाष्य लिखे गए थे किन्तु इन भाष्यों काश्रुतिवादिपरम्परा से कोई विरोध नहीं था और इन भाष्यों का प्रणयन प्रस्थानत्रयी की व्याख्या के लिए ही हुआ था। ब्रह्मसूत्रों के उपर भगवान उपवर्ष एवं बोधायन आदि के द्वारा भी व्याख्यान प्रस्तुत किए गए जिनका प्राय: सभी आचार्यों ने ससम्मान स्मरण किया है। किसी विशिष्ट मत को स्थापित करने केउद्देश्यसे प्रस्थानत्रयी स्वानुकूल व्याख्या करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात आचार्य शंकर के द्वारा ही हुआ है। आचार्य शंकर ने जिस अद्वैत मत की स्थापना की वह स्वयम् उनके द्वारा उद्भावित न होकर उनके परम गुरू आचार्य गौड़पाद के द्वारा उद्भावित माना जाता है। इस मत के अनुसार एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है वही माया या अविद्यारूप उपाधि के कारण जीवभाव को प्राप्त करता है और इस प्रकार ब्रह्म और जीव में स्वरूपत: भेद न होकर भी औपाधिक भेद है। ब्रह्म का ईश्वरभाव भी माया या अविद्या रूप उपाधि के ही कारण है। जगत् सत् न होकर मिथ्या है और ब्रह्म रज्जु पर आरोपित सर्प की भांति विवर्त्त मात्र है। आचार्य शंकर ने अपने परम गुरू के इस मत को एक पूर्ण एवं सुव्यस्थित दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए यह प्रदर्शित किया कि यह मत प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद, गीता एवं ब्रह्म सूत्रों के अनुकूल है। आचार्य शंकर द्वारा सुव्यस्थित रूप में प्रतिष्ठित किए जाने के कारण ही अद्वैत वेदान्त का एक नाम शांकर वेदान्त भी कहा जाता है।

चुँकि आचार्य शंकर ने एक विशिष्ट मत की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी का स्वानुकूल भाष्य प्रस्तुत किया इसलिए उनके भाष्यों में स्वभावतया ऐसे भी तत्व आ गये जो श्रुति वादी मतों के सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रतीत होते थे इसलिए आचार्य शंकर के भाष्य के प्रस्तुत होने के कुछ ही बाद उनका प्रतिवाद भी श्रुति परम्परावादी विभिन्न मतों के द्वारा स्वभाविक रूप से प्रारम्भ

हो गया। फलस्वरुप प्रस्थानत्रयी और ब्रह्मसूत्रोंके स्वमता नुकूल भाष्यों के एक नयी परम्परा का जन्म हुआ। इस परम्परा के अनुसार आचार्य शंकर के भाष्यों का सर्वप्रथम प्रतिवाद आचार्य भास्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि भास्कर भी जीव में और ब्रह्म में औपाधिक भेद तथा स्वाभाविक अभेद मानते थे तथापि वे ब्रह्म को शंकर के समान निर्विशेष न मानकर सविशेष मानते थे और साथ ही उपाधि और जगत् को सत्य मानते हुए जगत् को ब्रह्म का शक्ति विशेष लक्षण वास्तविक परिणाम मानते थे। इनका सिद्धान्त भेदाभेद है। भास्कर के बाद यादव प्रकाश ने भी शंकर का प्रतिवाद करने के लिए ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा था जो अब उपलब्ध नही है। भास्कर और यादव प्रकाश में इतना ही अन्तर है कि यादव प्रकाश उपाधि को न मानकर ब्रह्म से जीव और जड़ जगत् दोनों को एक समान स्वभाविक भेदाभेद मानते हैं। इनके अनुसार सन्मात्र द्रव्य ब्रह्म ही अपनी परिणाम शक्ति से अपने को नियन्ता (ईश्वर) भोक्ता (जीव) और भोग्य (जड़) के रूप में परिणत करता है।

आचार्य शंकर के सिद्धान्तों का सर्वाधिक प्रतिवाद वैष्णव मत के आचार्यों द्वाराकियागया।श्री जामुनाचार्य जी ने शंकरका प्रतिवाद करनेके लिएसिद्धित्रय, आगमप्रमाण्य एवं गीतार्थ संग्रह आदि स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की,बादमेंइनके प्रशिष्य अर्थात् शिष्य के शिष्य आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना की जो श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में यामुनाचार्य के सिद्धि त्रय आदि ग्रन्थों का पूर्ण उपयोग किया और ब्रह्मसूत्रों की प्राचीनवृत्ति बोधायन वृति और प्राचीन भाष्य, द्रविण भाष्य से पथ प्रदर्शन प्राप्त किया। उन्होंने अपने भाष्य में शंकर, भास्कर और यादव प्रकाश के सिद्धान्तों का निराकरण करते हुए अपने परम्परागत सिद्धान्तों को सूत्रानुकूल रूप में प्रदर्शित किया। श्री भाष्य से ही ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों के परम्परा का प्रवर्तन होता है। आचार्य रामानुज से ब्रह्मसूत्रों के श्रीभाष्य के अतिरिक्त गीता के भाष्य का भी प्रणयन किया और साथ ही वेदार्थ संग्रह, वेदान्त दीप, वेदान्त सार एवं गद्य त्रय आदि ग्रन्थों की रचना की। आचार्य

रामानुज के बाद आचार्य निम्बार्क, आचार्य मध्व एवं आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म-सूत्रों के स्वस्व मतानुकूल भाष्यों की रचना की । इनमें से किसी ने उपनिषदों और किसी ने गीता के भी भाष्योंकी रचनाकी। इन आचार्योंने वेदान्तके जिन स्वाभिमत रूपों के अनुसार ब्रह्मसूत्र आदि के भाष्यों की रचना की वे द्वैताद्वैतवेदान्त, द्वैत वेदान्त एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त के नाम से प्रचलित हैं । इसके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी श्री बलदेव विद्याभूषण ने स्वाभिमत के अनुसार ब्रह्मसूत्र आदि के भाष्यों की रचना की वह अचिन्त्य द्वैताद्वैत कहा जाता है ।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य और उनको रचनायें :-

१. आचार्य गौड़पाद :- ये अद्वैत वेदान्त के प्रथम एवं प्रवर्तक आचार्य हैं। अद्वैत वेदान्त मत की उद्भावना इन्हीं से मानी जाती है । अपने मत की पुष्टि के लिए इन्होंने मांडूक्योपनिषद पर एक कारिका ग्रन्थ प्रस्तुत किया जो माडूक्य कारिका के नाम से प्रसिद्ध है । इस ग्रन्थ में चार प्रकरण हैं जो क्रमशः आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण और अलांतशांति प्रकरण के नाम से विख्यात हैं । आचार्य गौड़पाद् के मत के अनुसार जगत् छाया मात्र या मिथ्या है । यद्यपि गौड़पाद से पूर्व ही बौद्धमत में जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का प्रादूर्भाव हो चुका था किन्तु वैदिक दर्शन में गौड़पाद से पूर्व किसी ने जगत् को मिथ्या या असत्य नहीं कहाथा अतः विद्वानों का विचार है कि गौड़पाद के सिद्धान्त बौद्ध मत से प्रभावित थे । इन्होंने अपने उक्त कारिका ग्रन्थ में बौद्ध मत के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध का न केवल ससम्मान स्मरण किया है, अपितु बौद्ध मत की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भी किया है। इनका समय ई० की अष्टम शताब्दी माना जाता है । ये आचार्य शंकर के गुरु गोविन्ददास या गोविन्दपाद के गुरु थे ।

आचार्य गोविन्दपाद :- ये आचार्य गौड़पाद के शिष्य और आचार्य शंकर के गुरु थे और इस प्रकार इनका समय आचार्य गौड़पाद एवं शंकर के बीच में है । इनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं होती ।

आचार्य शंकरः- इन्होंने अपने परम् गुरू आचार्य गौड़पाद के द्वारा

उद्भावित अद्वैत वेदान्त को पल्लवित कर एवं उपपत्तियों से समर्थित कर सर्वप्रथम एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसके कारण यह शांकर वेदान्त के नाम से भी प्रतिष्ठित हुआ। ये विश्व के प्रमुख मनीषी चिन्तकों में अन्यतम माने जाते हैं। इन्होंने प्रस्थान-त्रयी के तीनों अवयवों,-उपनिषद, गीता एवं ब्रम्हसूत्र पर भाष्य लिखे। प्रमुख दस या ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य लिखने के साथ इन्होंने आचार्य गौड़पाद की मांडूक्य कारिका पर भी भाष्य लिखा है साथ ही इन्होंने विवेक- चूड़ामणि, उपदेश-साहस्त्री आदि ग्रन्थों की भी रचना की है। इनका जीवन काल सन, ७८८ ई० से ८२० ई० तक ३२ वर्षों का माना जाता है। इतने अल्पकालिक जीवन में ही इन्होंने जो बौद्ध धर्म का खंडन कर वैदिक धर्म का उद्धार किया तथा साथ ही उत्कृष्ट दार्शनिक साहित्य की रचना कर अद्वैत वेदान्त मत को प्रतिष्ठित किया वह इनकी अलौकिक प्रतिभा का एक उदाहरण ही है। इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में ही चारों वेदों का अध्ययन कर लिया था और बारह वर्षकी अवस्था में सर्वशास्त्रविद् हो गए थे। सोलह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने भाष्य की रचना कर डाली थी तथा बतीसवें वर्ष में ये मुनि हो गए थे। जैसा कि कहा गया है।-

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रविद्।
षोडशे कृतवान् भाष्यम् द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगाद्।।

आचार्य शंकर नम्बूदरी ब्राह्मण थे और इनका जन्म मालाबार में हुआ था। आचार्य शंकर से पूर्व भी अद्वैत वेदान्त की रचना हुई थी और अनेक आचार्यों ने वेदान्त तत्त्व को मीमांसा की थी। इन आचार्यों का ब्रह्मसूत्र में उल्लेख मात्र मिलता है उनकी कोई रचना उपलब्ध नही होती। इनमें आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजीनि, काशकृत्स्न, जैमिनी, बादरि और आचार्य कश्यप का नाम विशेष रूप से उल्लेनीय है। आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थों में जिन नामों का उल्लेख किया है उनमें मूर्त-प्रपञ्च का नाम प्रथम आता है। मूर्तप्रपञ्च ने कठ तथा बृहदारण्यक पर भाष्य की रचना की थी।

सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि के समय भी इनका ग्रन्थ उपलब्ध था। मूर्त प्रपञ्च का सिद्धान्त ज्ञान कर्म समुच्चयवाद कहा जाता है। शंकराचार्य ने वृहदारण्यक भाष्य में कहीं-कहीं औपनिषन्मन्य कहकर इनका उपहास किया है। दार्शनिक दृष्टि में इनका मत द्वैताद्वैत नाम से प्रसिद्ध है । भर्तृमित्र दूसरे आचार्य हैं जिनका प्रसंग न्याय मञ्जरी में तथा यामुनाचार्य के सिद्धियत्र में आता है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्त के आचार्य रहे होंगे। इनके मीमांसा ग्रन्थ का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।भर्तृहरि का नाम भी यामुनाचार्य के ग्रन्थों में उपलब्ध है। ये भर्तृहरि वाक्यप्रदीपकार हैं। यद्यपि वेदान्त का कोई ग्रन्थ इनका उपलब्ध नहीं हुआ है फिर भी इन्होंने शब्दाद्वैत का प्रतिपादन किया है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उपवर्ष का नाम भी उल्लेख किया है। ये उपवर्ष पूर्व तथा उत्तर मीमांसाओं पर अपने वृत्ति ग्रन्थ प्रस्तुत किये। ब्रह्मसूत्र पर बोधायन की एक वृत्ति थी जिसका उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में किया। प्रतीत होता हैकि बोधायन वृत्ति का नाम कृतकोटि था। ब्रह्मनन्दी, टंक और मारुचि के नाम वेदान्ताचार्य के रूप में श्री वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है । द्रविड़ाचार्य एक प्राचीन वेदान्ती थे जिन्होंने छान्दोग्योपनिषद पर अति वृहद् भाष्य लिखा था। मांडूक्योपनिषद के भाष्य में शंकाराचार्य ने इनका आगमवित् कहकर उल्लेख किया है। शंकर के पहले सुन्दर पांडव नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिक की रचना की थीं जिसके तीन श्लोकों को आचार्य शंकर ने उदधृत किया है। ये शैव वेदान्ती थे। शंकराचार्य से पूर्व ब्रह्मदत्त भी एक अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे। ब्रह्मदत्त के मत में जीव अनित्य है, एकमात्र ब्रह्म भी नित्य पदार्थ है। इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य तत्त्वमसि में न होकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' आदि नियोग वाक्यों में है। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नही है। किसी अवस्था में भी शाधक के कर्मों का त्याग नहीं हो सकता।

इस प्रकार आचार्य शंकर के पूर्व जो अद्वैत वेदान्त की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आ रही थी उसे आचार्य शंकर ने अपने पांडित्य, मेधा

सर्वातिशायमी सेमुषी और असाधारण तर्क पटुता के कारण और पुष्ट किया तथा अद्वैत वेदान्त के माध्यम से वैदिक धर्म के उद्धार तथा प्रतिष्ठाका महनीय कार्य सम्पादन किया। इन्हें इस कार्य के लिए ही भगवान शंकर काअवतार की संज्ञ दी जाती है।

मंडन मिश्र :- मंडन मिश्र शंकराचार्य के समसामयिक अद्वैत प्रतिपादक आचार्य और सुप्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। स्वयं भी मीमांसक थे तथा उस समय के प्रकांड मीमांसकों में इनकी गणना की जाती थी। इन्होंने मीमांसा दर्शन से सम्बद्ध विधि-विवेक एवं भावना-विवेक आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की है। ऐसा कहा जाता है कि शास्त्रार्थ में शंकरा चार्य ने इनको पराजित कर दिया था जिससे इन्होंने उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली थी। उसके बाद अद्वैत वेदान्त के भी प्रमुख आचार्य हो गये । ब्रम्हसिद्धि इनकी अद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध उत्कृष्ट रचना है। ब्रह्मसिद्धि पर शंख पाणि कीं टीका भव्रस से प्रकाशित है। इनकी अन्य व्याख्याये ब्रम्हत्व समीक्षा, वाचस्पति की अभिप्राय प्रकाशिका चित्सुख की तथा भाव शुद्धि आनन्दपूर्ण की है। कुछ लोगों का कहना है कि मण्डन मिश्र का ही दूसरा नाम सुरेश्वराचार्य है किन्तु दोनों की ही रचनाओं के उपलब्ध होने एवं दोनों में सिद्धान्तगत भेद होने से उनकी एकता सिद्ध नहीं होती।

सुरेश्वराचार्य:- ये आचार्य शंकर के प्रमुख शिष्यों में एक माने जाते हैं। आचार्य शंकर द्वारा प्रणीत उपनिषद् भाष्यों पर वार्तिकों की रचना करने के कारण मुख्य रूप से वार्तिककार के नाम विख्यात हैं । इनका वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक विपुलकाय प्रौढ़ तथा पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ रत्न है । इसके अतिरिक्त इनके तैतिरीय भाष्य वार्तिक नैष्कार्य सिद्धि, दक्षिणा मूर्ति, स्तोत्र

पद्माचार्य:- आचार्य शंकर के दूसरे शिष्य पद्माचार्य ने शारीरक भाष्य की प्रथम वृत्ति पञ्चपादिका नाम से लिखी। जिसमें चतुःसूत्रों काही विस्तृत विवेचन है।इसके अतिरिक्त प्रपञ्च सारटीका और विज्ञानदीपिका पद्मपाद के ग्रन्थ माने जाते हैं। पञ्चपादिका से उपर अवान्तर शताब्दियों में

अनेक महत्वशाली ग्रन्थ रचे गये । प्रकाशशातम यति ने इसकी टीका विवरण नामसे लिखी यह टीका इतनी विशिष्ट है कि इसी के नाम पर विवरण प्रस्थान का नामकरण हुआ है। विवरण की दो टीकाये हैं- अखण्डानन्द मुनि कृत "तत्व दीपन' और विद्यारण्यकृत विवरण - प्रमेय - संग्रह । पञ्चपादिका की अन्य अनेक वृत्तियाँ भी हैं ।

सर्वज्ञातममुनि: सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञातम मुनिने ब्रम्हसूत्र के उपर संक्षेप शारीरक नामक एक प्रख्यात पद्यबध्द व्याख्या ग्रन्थ लिखा है जिस पर नृसिहांश्रम की तत्व बोधिनी तथामधुसूदन सरस्वती का सार संग्रह प्रसिध्द है ।

वाचस्पति:- इन्होंने विभिन्न दर्शनों से सम्वध्द अनेक ग्रन्थों की रचना की है । अद्वैत वेदान्त के क्षेत्रों में इन्होंने ब्रम्हसूत्र शांकरभाष्य पर भामती नामक उत्कृष्ट टीका की रचना की है साथ ही इन्होंने ब्रह्मत्व समीक्षा नामक वेदान्त ग्रन्थ की रचना की जो सम्प्रति अनुपलब्ध है । इतिहासकारों के मत में इनका समय ई० की नवीं शताब्दी मान्य है । वाचस्पति मिश्र के वेदान्त सिध्धान्तों पर मण्डनमिश्र के विचारों का विशेष प्रभाव लक्षित होता है ।

श्री हर्ष:- काव्य साहित्य के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त श्री हीर सुत श्री हर्ष ने नैषधीय चरित की रचना करके अपना वैदूष्य प्रकट करने के साथ ही खण्डन खण्डखाद्य नामक ग्रन्थ की रचना करके अपना दर्शन विषयक पांडित्य भी प्रदर्शित किया है ।

चित्सुखाचार्य:-इन्होंने तत्वदीपिका नामकग्रन्थ लिखा जिसे चित्सुखी भी कहते हैं । साथ ही भाव प्रकाशिका आदि टीका ग्रन्थों की भी रचना की है जिनका उपर उल्लेख किया जा चुका है । इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है ।

अमलानन्द:- इन्होंने वाचस्पति मिश्र की भामती पर कल्पतरु नामक टीका लिखी है । इनका भी समय तेरहवीं शताब्दी में माना जाता है ।

विद्यारण्य:- इनकी चर्चा उपर की जा चुकी है । इन्होंने विवरण प्रमेय संग्रह नाम से विवरण की टीका लिखी । इनकी प्रसिद्ध रचना पञ्चदशी है ।

साथ ही जीवन मुक्ति विवेक आदि अनेक ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं । इनकी समय ई० की चौदहवीं शताब्दी माना जाता है ।

आनन्द गिरि:- इन्होंने आचार्य शंकर द्वारा प्रणीत भाष्यों पर टीकायें लिखी हैं । इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी है ।

मधुसूदन सरस्वती:- इनकी प्रसिद्ध रचना अद्वैत सिद्धि है । ये काशी के सन्यासियों में अग्रगण्य थे। अद्वैत सिद्धि के द्वारा इन्होंने द्वैतवादियोंकीयुक्तियों का मार्मिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया है । यह ग्रन्थ वेदान्त ग्रन्थों में मण्डन के समकक्ष माना जाता है । वेदान्त कल्प लतिका, सिद्धान्त विन्दु, गीता टीका आज भी नितान्त लोकप्रिय है ।

अप्पय दिक्षित:- ये अद्वैत वेदान्त के उत्कृष्ट विद्वान हुए हैं । इन्होंने भामती की टीका कल्पतरु पर परिमल नामक टीका लिखी है । इन्होंने सिद्धान्तलेश संग्रह आदि ग्रन्थों की भी रचना की है । श्री कण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर शिवार्कमणि दीपिका इनकी एक उच्चकोटि की कृति है । सिद्धान्तलेश संग्रह अद्वैतवेदान्त के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल संग्रह है अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है ।

धर्मराजा ध्वरिन्द्र:- नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य और वेंकटनाथ के शिष्य की वेदान्त परिभाषा वेदान्त प्रमाण पर एक अनुपम ग्रन्थ है । तत्त्वचिन्तामणि की दस टीका विभंजनी, अभिनवा टीका के निर्माता होने से इस ग्रन्थकार की तार्किक विद्वता में किसी को संदेह नहीं हो सकता । इनके पुत्र रामकृष्ण ने वेदान्त परिभाषा को वेदान्त शिखामणि टीका से विभूषित किया है ।

सदानन्द योगिन्द्र:- इन्होंने वेदान्त सार नामक लघुरूप प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धानें को सरलता के साथ प्रतिपादित किया गया है । इस ग्रन्थ पर स्वामी रामतीर्थ ने विद्वानमनोरंजनी नामक उत्तम टीका लिखी है । सदानन्द का समय ।

बह्मानन्द सरस्वती:- अद्वैत सिद्धि पर अद्वैत चन्द्रिका के रचयिता ब्रह्मानन्द सरस्वती बंगाल के रहने वाले थे । इनकी टीका गौड़ ब्रह्मानन्दी नाम से विख्यात है । सदानन्द यति इन्हीं के शिष्य थे ।

गोविन्दानन्दः- इन्होंने ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पर रत्नप्रभा नामक टीका लिखी है। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य और उनकी रचनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी जबतक इस मत के मूल प्रवर्तक आचार्य गौड़पाद के विषय में न जान लिया जाय तबतक अद्वैत वेदान्त का वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता इसलिए यहाँ पर आचर्य गौड़पाद के विषय में संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है :—

आचर्य गौड़पाद :- ये शंकर के गुरु गोविन्दपाद के गुरु थे। इनके विषय में प्रारम्भ में ही एक संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। यहाँ पर इनके ग्रन्थ और प्रतिपाद्य विषयों के बारे में संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। जैसा कि ऊपर ही कहा जा चुका है कि इनका ग्रन्थ माडूक्य कारिका चार प्रकरणों में विभक्त है - आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण अद्वैत प्रकरण तथा अलात शांति प्रकरण।

आगम प्रकरण :— आगम प्रकरण में मूल मांडूक्य उपनिपद की विस्तृत व्याख्या है। जिसमें 'ओप्' शब्द के 'अ' 'उ' 'म' वर्णों के द्वारा प्रतिपाद्य वैश्वानर हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर से भिन्न तथा जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से पृथक परन्तु इनमें अनुगत परमात्मतत्व, अनुष्ठान तथा साक्षी रूप से और ओंकार के चतुर्थ पाद आमात्र तुरीय नाम से वर्णिति किया गया है।

वैतथ्य :- वैतथ्य प्रकरण में युक्तियों के सहारे बड़ी कुशलता से जगत् प्रपञ्च का माया मयत्व सिद्ध किया गया है। जाग्रत जगत् भी स्वप्न के अनुरूप एकदम मिथ्या है। आत्मा ही नित्य पदार्थ है। परन्तु उसी में तरह-तरह के भावों की कल्पना होकर इस प्रपञ्च का उदय होता है। इस विकल्प का मूल भाया है। यह समस्त भाया कल्पित जगत् स्वप्न तथा गन्धर्वनगर के समान असत्य है। तव शंका होती है कि परमार्थ क्या है ? इसपर आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि ब्रह्म का न तो कभी नाश होता है और न उदय। न वह कभी बन्धन में आता है न वह मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। उत्पत्ति और नाश, बन्धन्न तथा मुक्ति ये सापेक्ष भावनायें हैं। ब्रह्म

सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। उस एक अखण्ड चिरवत् वस्तु को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता नहीं है।

अद्वैत प्रकरण :- अद्वैत प्रकरण में आचार्य गौड़पाद ने अनेक दृढ़ युक्तियों के आधार पर अद्वैत तत्व की सिद्धि की है। इनके अनुसार आत्मा में सुख दु:ख की भावना करना नितान्त असंगत है जिस प्रकार बच्चे धूलि तथा धूलि के संसर्ग से आकाश को मलीन बताते हैं किन्तु वास्तव में आकाश कभी मलीन नहीं होता उसी प्रकार आत्मा को भी सुख दु:खादि भावों से संसर्ग जन्य मलीन तथा दु:खी सुखी मानना बालकों को दुर्बुद्धि का विलास है। आत्मा तो स्वत: असङग ठहरा। द्वैत की कल्पना का आधार माया है। न अमृत पदार्थ मर्त्य होता है न मरणशील वस्तु अमृत बनती है। अत: अमृत अत: आत्मा की उत्पत्ति मानने से उसमें मर्त्यत्व धर्म का दोष अपात् हो जाएगा। आत्मा उत्पत्ति एवं जाति रहित है। इसे ही आचार्य गौड़पाद का अजातिवाद का सिद्धान्त भी कहते हैं।

अलात् शांति प्रकरण :- आलत् का अर्थ होता है मशाल। मशाल के घुमाये जाने पर गोल आकृति की उत्पत्ति भ्रमणजन्य व्यापार से होती हैं उसी प्रकार जगत् का यह रूपी माया कल्पित है। मन के व्यापार होने से ही जगत् की सत्ता है। मन के निरोध होते ही उसका अभाव हो जाता है। अत: मन के अमनी भाब होते ही जगत् प्रपञ्च का विलय हो जाता है। जगत् प्रपञ्च की उत्पत्ति तथा लय प्रतीति तथा अप्रतीत्ति दोनों भ्रांति जतिन है वस्तुत: एक ही परमात्मतत्व की परमार्थिक सत्ता है।

इस प्रकरण की भाष पारिभाषिक शब्द तथा सिद्धान्त के अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि गौड़पाद ने बुद्ध धर्म के तत्वों का ही प्रतिपादन वेदान्न के रूप में किया है किन्तु आचार्य बलदेव उपाध्याय् के मत में ऐसा सोचना भी भ्रांतिमूलक ही है। उनका कहना है कि बहुत संभव है कि ये परिभाषिक शब्द अध्यात्मशास्त्र के सर्वजनमान्य साधारण शब्द रहें हों जिनका प्रयोग करना बौद्ध दार्शनिकों की भांति गौड़पाद के लिए भी न्याय था। केवल शब्द साम्य के आधार पर महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की उद्भावना

करना उचित नहीं है । बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों से गौड़पाद के परिचित होने का हम निषेध नहीं करते परन्तु वेदान्त के छल से बौद्ध धर्म के तत्वोंका प्रचार करने का दोष उनके ऊपर लगाने के हम पक्ष में नहीं हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य गौड़पाद से लेकर गोविन्दा नन्द तक प्रायः सभी आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व एवं ब्रह्म के नित्यव का प्रतिपादन किया है । आचार्य गौड़पाद ने जिस अद्वैत अध्यात्म की धारा को उद्भूत किया आचार्य शंकर ने उसे गति देकर समृद्ध बनाया। परवती आचायों ने इसे अपना योगदान देकर पूर्णता प्रदान किया । इस दर्शन में प्रवेश करने के लिए श्री सदानन्द योगीन्द्र ने वेदान्त सार के रूप में प्रवेश द्वार रूप ग्रन्थ प्रदान किया । इनका यह ग्रन्थ माण्डूक्योपनिषद एवं पञ्चदशी के ऊपर आश्रित है । इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त के मान्य प्रतिपाद्यो का संक्षिप्त वर्णन किया गया है । अद्वैय वेदान्त के स्वरूप को समझने के लिए वेदान्त सार के प्रदिपाद्य विषयों का संक्षिप्त ज्ञान इस स्थल पर आवश्यक प्रतीत होता है जिससे आगे अद्वैत वेदान्त के प्रतिपाद्य विषयों को समझने में आसानी होगी ।

वेदान्त सार के प्रारम्भ में वेदान्त के अनुबन्ध चतुष्टयों का निर्देश करते हुए लेखक ने वेदान्त के अधिकारी के लिए आवश्यक नियमों और गुणों को बतलाया है । इसी प्रसंग में उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त कोस्थापित करते हुए बतलाया है कि ब्रह्म नी नित्य और सत्य वस्तु है जिसपर अज्ञानादि सकल जड़ समूह रूप अवस्तु का आरोप हो गया है ।

अज्ञान :- सदानन्द योगीन्द्र के मत में अज्ञान त्रिगुणात्मक; सत् और असत् से भिन्न अनिर्वचनीय, परब्रह्म की एक विचित्र शक्ति है जो ज्ञान विरोधी भाव रूप एवं यत् किंचित है' मैं अज्ञ हूँ' यह लोकनुभव ही अज्ञान के अस्तित्व का प्रमाण है । इस अज्ञान के दो रूप हैं समष्टि और व्यष्टि । अज्ञान समष्टि से परिच्छिन्न परब्रह्म ही ईश्वर कहा जाता है और अज्ञान व्यष्टि से परिच्छिन्न ब्रह्मांशभूत आत्मा जीव कहा जाता है। ईश्वर का क्षेत्र व्यापक है। वह सवज्ञ और सर्वशक्ति मान है। जीव का क्षेत्र सीमित है। वह अल्पज्ञ है और

किंचिद्यई है ।फिर भी ईश्वर और जीव क आधार वही उपाधिरहित परब्रम्ह है । इनमें समष्टि और व्यष्टि का अन्तर वैसा ही है जैसा कि धन से अविच्छन्न आकाश और वृक्षों से अविधिन्न आकाश में होता है । यद्यपि दोनों में एक ही आकाश है फिर भी एक में उसकी समष्टि है और अन्य में उसकी व्यष्टि । इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं- आवरण और विक्षेप । आवरण शक्ति जीव को दृष्टि से परब्रम्ह को छिपा देती या ओझल कर देती है । और विक्षेपण परब्रम्ह पर नाम रूपात्मक जगत् की भ्रांति उत्पन्न कर देती है। इन्हीं दोनों शक्तियों से युक्त ब्रह्म जगत् का उसी प्रकार निमित्त कारण और उपादान कारण है जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल रूप कार्य के प्रति निमित्त कारण और उपादान कारण नही है ।

सृष्टि :— अज्ञान की दूसरी शक्ति विक्षेपण शक्ति तम प्रधान होती है। ब्रह्म पर आरोपित तम प्रधान विक्षेपण शक्ति से युक्त अज्ञान से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की सृष्टि होती है। फिर इन्हीं पँच तत्वों के क्रमिक विकास से प्राणियों के सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की सृष्टि होती है । इन शरीरों में भी समष्टि और व्यष्टि का भेद रहता है। सूक्ष्म शरीरों की समष्टि में उपहित ब्रम्ह या चैतन्य को सूत्रात्मा या हिरण्य गर्भ कहा गया है । और इसकी ब्यष्टि में उपहित ब्रह्म या चैतन्य को तैजस् कहा कहा गया है । इसी प्रकार स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित ब्रह्म को वैश्वानर या विराट कहा गया है और इनकी व्यष्टि से उपहित ब्रह्म में विश्व कहा गया है।

आत्मा :- वेदान्त सार में आत्मा के विषय में सदानन्द योगीन्द्र ने अनेक मत मान्तरों का उलेख करते हुए श्रुति प्रमाणों द्वारा उनका खण्डन भी प्रतिपादित किया है किसी ने पुत्र को आत्मा बताया है तो कोई शरीर को, कोई इन्द्रिय मन, प्राण एवं बुद्धि आदि को भी आत्मा मानते हैं, किन्तु सदानन्द योगीन्द्र ने अपने वेदान्त सार में सबका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इन सबसे भिन्न नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो सत्य स्वभाव वाला प्रत्यग्रचैतन्य ही आत्मा है ।

इस प्रकार सदानन्द योगीन्द्र ने यहाँ तक वेदान्त सार में ज्ञान और तज्-जन्य जगत् का किस प्रकार परब्रह्म पर आरोप या अध्यारोप होता है इसका वर्णन किया हैं। इसके आगे अपवाद का वर्णन किया गया है। उनके मत में विज्ञान और तज्जन्य जगत् का शुद्ध ब्रह्म पर आरोप ही अध्यारोप है। और उसका अपबाद या निरास करके अर्थात् अध्यारोपित जगत् का भ्रम दूर करके शुद्ध ब्रह्म मात्र की मापना करना ही अपवाद है। उदाहरण स्वरुप रस्सी पर सर्प की भ्रान्ति का आरोप करना या रस्सी को सर्प मान बैठना अध्यारोप और रस्सी में भ्रान्ति या भ्रम रुप सर्प बुद्धि को हटाकर उसे रस्सी ही समझना अपवाद है।

अपवाद प्रक्रिया में जगत् के सभी पदार्थों का व्युप्क्रम से अर्थात् सृष्टि के विपरीत क्रम से ब्रह्म में विलीनीकरण अर्थात् ब्रह्मनाप को दिखाना रहता है जिससे कि अन्त में केवल एक शुद्ध बह्म मात्र शेष रह जाता है।

इस अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया से ही गुरू साधक को ततत्वमसि आदि महावाक्यों के तत्- त्वम् और असि पदों का वास्तविक अर्थ समझा देता है और तब साधक गुरु के उपदेश एवं स्वकीय चिन्तन तथा मनन के द्वारा यह जान जाना है कि त्वम् पद वाच्य साधक तत पदवाच्य ब्रह्म से भिन्न नहीं है अर्थात् साधक और साध्य ब्रह्म में ऐक्य है। वह यह जान लेता है कि यद्यपि व्यवहार दशा में अपरोक्षत्व, अल्पज्ञत्व आदि विशिष्ट चैतन्य रूप जीव और परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व आदि विशिष्ट चैतन्य रूप ब्रह्म में अन्तर प्रतीत होता है किन्तु भाग लक्षणा द्वारा विरूद्धांश का परित्याग और अविरूद्ध चैतन्याँश का ग्रहण करने पर वह अन्तर्विलीन हो जाता है। इस प्रकार साधक ब्रम्ह के साथ ऐक्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इसके लिए सदानन्द योगीन्द्र ने सोऽयं देवदत्त: का उदाहरण लोगों के सामने उपस्थित किया है।

उक्त प्रकार से जब साधक को ब्रम्हात्मैक्य का बोध हो जाता है तब वह निरन्तर चिन्तन और अभ्यास के द्वारा 'अहँ ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसी अनुभूति प्राप्त कर लेता है। निरन्तर अभ्यास करते रहने से जब साधक में

अहँ ब्रह्मस्यि की चित्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तब उसके द्वारा जीवात्मा पर आच्छादित अज्ञान का स्वतः नाश हो जाता है। अज्ञान के नाश हो जाने पर ही उसके लिए अज्ञान का समस्त जगत् प्रपञ्च भी तिरोहित हो जाता है और स्वयं प्रकाशवान ब्रम्ह स्वतः उद्भासित हो उठता है ब्रम्ह के उद्भासित होते उक्त रूप चित्त की वृत्ति भी जो कि अज्ञान का ही कार्य है बाधित हो जाती है। परिणाम स्वरूप साधक का जीव भाव समाप्त होकर एकमात्र ब्रम्हभाव ही अवशिष्ट रह जाता है।

इस प्रकार से ब्रम्ह साक्षात्कारके लिए ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि आदि की आवश्यता होती है। इसीलिए सदानन्द योगीन्द्र नेअपने वेदान्त सार में इनका भी विस्तृत विवेचन किया है। इनके अनुसार समाधि दो प्रकार की होती है— एक सविकल्पक समाधि जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की प्रतीति बनी रहती है तथा दूसरी निर्विकल्पक समाधि जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद पूर्णतया विलीन हो जाता है। सविकल्पक समाधि द्वारा सिद्धि प्राप्त कर ब्रम्हज्ञान की प्राप्ति होती है। ब्रम्हज्ञान प्राप्ति के पश्चात् निर्विकल्पक समाधि के द्वारा साधक अहँ ब्रम्हास्मि की निरन्तर अनुभूति करता है। यम, नियम, आसन प्राणायाम, धारणा, ध्यान और सविकल्पक समाधि ये निर्विकल्पक समाधि के उपकारक अंग हैं।

ब्रम्ह साक्षात्कार कर लेने पर तव्यज्ञानी साधक जीवन मुक्त हो जाता है। यर्दपि वह तब तक संसार में रहता हुआ विमुक्त भाव से अपने समस्त कार्य करता रहताहै जबतक कि उसके प्रब्ध कर्मों का भोग पूरा नहीं हो जाता। फिर भी वह इस संसार और इसके कार्यों में लिप्त नहीं होता प्रारब्ध कर्मों के भोग के उपरान्त जब उसका शरीर पात होता है तब वह ब्रम्हभाव या मोक्ष को प्राप्त होता है। अथात् वह वस्तुतः ब्रम्ह था और अन्ततः ब्रम्ह ही हो जाता है। इस रूप में अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही दार्शनिक भाषा में मोक्ष कहा जाता है। इस प्रकार श्री सदानन्द योगिन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के अद्वैत वेदान्द सम्बन्धी प्रतिपाद्य मुख्य विषयों का वेदान्त सारमें प्रतिपादन कर दिया है।

यद्यपि वेदान्त सार शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक ग्रन्थ है फिर भी इसमें इसके रचयिता सदानन्द योगीन्द्र का कुछ मौलिक स्वतन्त्र चिन्तन भी दृष्ठिगत होता है। उदाहरण के लिए शंकराचार्य ने ईश्वर और जीवात्मा का दो समान रूपों में विकास नहीं दिखलाया है। पर सदानन्द ने इसको समान रूप में विकसित प्रतिपादित किया है । इसके अतिरिक्त शंकराचार्य ने िसे अविद्या कहा है उसे सदानन्द ने अज्ञान कहा है। यही नहीं शंकराचार्य ने अविद्या के समष्टि और व्यष्टि के रूप में भेद नहीं किये हैं किन्तु सदानन्द ने अज्ञान को समष्टि और व्यष्टि भेदों में विभाजित कर दी इन्हीं के आधार पर प्रमुखतया अपने ग्रन्थ वेदान्त सार का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार शंकराचार्य ने आचार्य गौड़पाद के सिद्धान्तों का भाष्य मात्र किया है जबकि आचार्य सदानन्द योगीन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का समायोजन करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है।

यहाँ तक अद्वैत वेदान्त के उद्‌भव एवं विकास की यात्रा का ज्ञान कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन के प्रतिपाद्य विषयों का विस्तृत ज्ञान किया जाय। इसका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत किया जाएगा। क्योंकि अद्वैत वेदान्त को स्वतन्त्र दर्शन का स्वरूप देनेवाले वे ही प्रथम आचार्य माने जाते है।

तृतीय अध्याय

अद्वैत वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय

जैसा कि पिछले अध्यायों में चर्चित है कि अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य हैं। अतएव उनके द्वारा ब्रम्हसूत्र पर किये गए भाष्य का ही सभी अद्वैत मतवादियों ने प्रतिपादन किया है। वेदान्त दर्शन का प्रयोजन उपनिषद वाक्यार्थ निर्णय पूर्वक ब्रम्ह जीवैक्य रुप अखण्डार्थ बोध कराना है। इसलिए इसका दूसरा नाम उत्तरमीमांसा भी कहा गया है। मीमांसा पद का दार्शनिक भाषा में अर्थ होता है जिज्ञासा विषय विषयक संशय असंभावना, विपरीत भावनादि निवर्तक विचार। धर्म और ज्ञान के भेद से वेदार्थ भी दो प्रकार के हैं एक धर्म जो कर्मकाण्ड से सम्वन्धित और पूर्व मीमांसा का विषय है दूसरा ब्रम्ह जो ज्ञान काण्डान्तर्गत उपनिषद् से सम्वन्धित उत्तरमीमांसा का विषय है। इस प्रकार यह निश्चत हो जाता है कि उत्तर मीमांसा यनि अद्वैत मत में ब्रम्ह ही मुख्य प्रतिवाद्य है। तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति, ज्ञानादेव तु कैवल्म्, तत्त्वमसि आदि वाक्येत्थं ज्ञानम् मोहस्य साधनम् इत्यादि अनेकों श्रुतिवचनों के अनुसार तत्वज्ञान अर्थात् ब्रम्हसाक्षात्कार ही मोक्ष का साधन है और मोक्ष ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। मोक्ष और धर्म में उपायोपेय भाव सम्बन्ध है। विविदिशन्ति यज्ञेन इत्यादि ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मण: तथा अविद्ययया मृत्युं वीर्त्वा विद्ययायामृतमश्चुते इत्यादि वचनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि मोक्ष का साधन बहुसाक्षात्कार है। ब्रम्हज्ञान का साधन विविदिशा है और विविदिशा का साधन मनोमलक्षय है। इस मनोमल का विनाश धर्मज्ञान से होता है। इस प्रकार धर्म परम्परया मोक्ष का साधन सिद्ध होता है और धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का ही एक अङ्ग है।

अद्वैतवाद की स्थापना में शंकराचार्य ने माया अथवा अविद्या का अभ्युपगम किया है। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उठता है कि माया के अभ्युपगम की आवश्यकता ही क्या थी। इसका समाधान अत्यन्त सुलभ और स्पष्टतया इस प्रकार दिया गया है कि जगत् का नानात्व और अद्वैत इन दोनों का सामञ्जस्य माया की जगत् कारणत्व में द्वारता के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि उपनिषदों में दो तरह के परस्पर विरोधी वाक्य कदम्ब उपलब्ध होते हैं। एक ओर पुरुष एवेदं विश्वं कर्मतपो ब्रह्म परामृतम, ब्रह्मेवेदम् अमृत पुरस्तात्, ब्रह्म पश्चाद् दक्षिणातस्चोत्रेण, एकमेवाद्वितीयं और नेहनानास्ति किञ्चन इत्यादि वाक्य कदम्ब हैं जिनसे अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि होती है तो दूसरी ओर यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन् जातानि जीवन्ति, यत्प्रेत्याभिशंविशन्ति, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते तथा जायान् प्रथिव्या ज्यायान्तरिक्षा, ज्यायनदिवं, ज्यायातेभ्यो लोकेभ्य: इत्यादि वाक्य कदम्ब हैं जिनसे जगत् का नानात्व स्थापित होता है। अद्वैत और नानात्व मेंस्पष्टतया विरोध है। इसी विरोध के परिहारार्थ माया का अभ्युपगम आवश्यक हो जाता है। माया के अभ्युपगम से इन परस्पर विरोधी वचनों में सामञ्जस्य सुलभ है। माया या अविद्या को शंकराचार्य अनिर्वचनोय तथा मिथ्या मानते हैं। माया कल्पित या अविद्या प्रत्युपस्थापित सारा जगत् भी अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। मिथ्या माया से प्रोद्भासित या विक्षिप्त जगत् के नानात्व से पारमार्थिक अद्वैत की हानि नहीं होती है। पारमार्थिक तत्व एक ही है और वह ब्रह्म के सिवा अन्य कोई नहीं। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थ सार्थ रज्जु सर्वादिवत् प्राति भासिक या व्यवहारिक हैं। आगणित प्रतिभास की या व्यावहारिकी सत्ता से युक्त विविध वस्तुओं की प्रतीति से एक पारमार्थिकी सता या अद्वैत का कोई विरोध नहीं। दूसरे शब्दों में पारमार्थिक तत्व एक ब्रह्म ही है और परि दृश्य मान नानात्व उत्पाद विनाशशाली एवं प्रतीतिमात्र जीवित है। इस प्रकार माया के अभ्युपगम से नानात्व का अद्वैत से विरोध परिहृत हो जाता है।

उपर्युक्त परिहार से सिद्धान्ततः यही निष्पन्न होता है कि ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापः, किन्तु माया को जगत् विच्छेप कारण मानने पर भसितेऽपि लसुने न व्याधि शान्तिः इन नय के अनुसार एकमात्र पारमार्थिक तत्व ब्रह्म के साथ तथा तत्प्रत्युपस्थापित जगत् को किस प्रकार सम्बन्धित किया जाय यह जटिल समस्या बनी ही रह जाती है। इसी के समाधान स्वरूप अद्वैत मतानुयायियों ने तीन प्रस्थान प्रतिष्ठापित किए। एक अविच्छेदवाद दूसरा प्रतिविम्बवाद और तीसरा आभासवाद। जिनके अनुसार जगत् ब्रह्म बन परिच्छिन्न नाम रुपात्मक प्रतिभास, चित्प्रतिविम्ब या चिदाभास मात्र है। शंकराचार्य ने इन तीनों का ही अपने भाष्य में संकेत एवं ततपरक व्याख्यान किया है। किन्तु उन्होंने इनमें से किसी को एकान्त रूप से नहीं अपनाया। जहाँ जो उपयुक्त जँचा या आवश्यक हुआ वहाँ उसे उपन्यस्त कर दिया। अतः उनके भाष्य में तीनों की पृष्ठभूमि समानरुप से उपलब्ध होती है। उनके शिष्यों तथा परवर्ती अनुयायी आचार्यों ने प्रत्येक को विश्लिष्ट तथा उपबृंहित करके एक अलग प्रस्थान या वाद का रुप दिया है।

शंकराचार्य के भाष्यों में ब्रह्म के बाद दूसरा चर्चित विषय माया है। माया के पर्यायवाचक शब्दों के रुप में उन्होंने मिथ्या ज्ञान, मिथ्या प्रत्यय, मिथ्या बुद्धि अव्यक्त, महासुषुप्ति, आकाश, अक्षर, अध्यास और अविद्या का प्रयोग किया है।

कहीं कहीं माया पद का भी स्पष्ट उल्लेख है। यथा—

मिथ्याज्ञाननिमित्त ……… …..नैसर्गिकोय्यं लोकव्यवहार[1], तदपगतया मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्ति ………… [2], सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्", "नद्यात्मनः शरीरत्वाभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीत्वं शक्यं कल्पयितुम्", 'मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम्। नहिं मिथ्याज्ञानकल्पितेनोंपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्प्रशयते"[3]

१ (ब्र० सू० श० भा० १११ उपोद्घात

२ (१—१—४)

३ (१--२--८)

मिथ्याज्ञानविजृम्मितं नानात्वम् ४'' मिथ्याज्ञानपुरस्सरोऽयमात्मनो बुध्युपाधिसम्बन्ध:। न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्ति,५'' मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यत: साध्वेतदारब्धक्षये विदुष: कैवल्यम्६।

२ अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिव्यक्तशब्दनिर्देश्या७... ... ..''

३ परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्ति, यस्यांस्वरुपप्रतिबोधरहिता: शेरते संसारिणो जीवा८ ''

४-५ ''तदेदद्व्यक्तं क्वाचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्-एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च९

६ तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्योति मन्यते। १०

७ ''न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुति:, अविद्या कल्पितनामरुपव्यपहारगोचरत्वात्''११ तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदायेक्षमेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वंचन परमार्थतो विद्यययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरुपं आत्मनीशितृत्वसर्वज्ञत्वादिव्यपहार उपपद्यते''१२, ''तस्भाद् विद्ययाऽप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रुपमिति......१३'', ''एवभविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदु:खतरतम्यनित्यं संसाररुपं श्रुतिस्मृति न्यायप्रसिद्धम्१४''

८ मायामात्रं ध्येतत्परमात्मनोऽवस्धात्रयात्मनाऽवभासनं रज्जता इव सर्वादिभादेनेति१५'' एक एव परमेश्वर: कूटस्थनित्यो विद्वानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकद्या विभाव्यते१६

४ (२--१--१४)
५ (२--३--३१)
६ (४-१-१९)
७ (१-४-३)
८ (१-४-३)
९ (बृ० उ० ३-८-११), (१-४-३)
१० (१-१-१ उपोद्धात:)
११ (२-१-३३)
१२. (२--१--१४)
१३. (१--३--२०)
१५. (१--१--४)
१६. (२-१-९)

आचार्य शंकर ने अविद्या के अभ्युगम के साथ ब्रम्ह के दो रुप स्वीकार किये हैं— द्विरूपं हि ब्रम्हावजम्यते, नामरुपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तदविपरीतं च सर्वो पाधिविवर्जितम्' अर्थात् ब्रम्ह का एक स्वरुप पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक है। व्यावहारिक रुप नामरुपविकारभेदादि उपाधियों से विशिष्ट है और दूसरा पारमार्थिक रुप पर या निरुपाधिक ब्रम्ह कहा जाता है। यहाँ पर शंकराचार्य द्वारा दो प्रकार के ब्रम्ह का विवेचन करने का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रम्ह के दो भेद हैं अपितु इन दोनों रूपों की कल्पना दो तरह के परस्परविरोधी वाक्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए की गयी है। उपनिषदों में— यत्र हि द्वैतमिव भवति तद इतर इतरं पश्यति, यत्र तु अस्य सर्व आत्मैवाभूत तद् केन कं पश्येत्, यत्र नान्यत् पश्यति सभूमाय यत्रान्यत् पश्यति तद्ल्पं, यो वै भूमा तदमृत मथ यदल्पं तन्मतर्यं (छा०-३०, ७-२४-१), निष्कलं निष्क्रियं शान्त निरवद्यं निरंजनम्। अमृतस्य परं सेतुँ दग्धेन्धनभिवानलम् (श्वेताश्वस्त्र उप० ६-१९), नेति नेति व अस्थूलं अनणु (बृहदारण्यक उप० २-३ ६ व ३-८-८), यता वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्तय भिषभविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति आदि निरुपाधिक ब्रम्ह की द्विरुपता को निरुपित करते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्ण निरन्तर और निरुपाधिक परब्रम्ह ही अविद्या-प्रत्युत्प स्थापित नाम रूप विशेषों में प्रविष्ट होकर परिच्छिन्न प्रतिबिम्ब या आभास के रुप में व्यपहारापन्न होकर सोपाधिक की भाँति प्रतीत होता है। अविद्या की परीधि में तथा उसकी अपेक्षा से सोपाधिक रुप में प्रतीत होता हुआ भी ब्रम्ह पारमार्थिक स्वरूप में निरन्तर बना ही रहता है। अविद्या के कारण ही वह ईश्वर तथा जीव सदृश अंशांशि भाव से प्रतीत होना हैं। जगत् कारणत्व तथा शारीरत्व अंशांशि भाव के दो पहलू हैं।

माया और अविद्या दोनों में शंकराचार्य के मत में कोई भेद नहीं है। माया या अविद्या ईश्वर की उपाधि तथा महाशक्ति है। नामरुपादि विविध विशेषात्मक अगणित वैंचित्र्यमय समस्त जगत् इसी माया या अविद्या का विक्षेप तथा विनृम्भण है। परिणामतया सोपाधिक ब्रह्म अविद्या संवलित हो

ईश्वर की संज्ञा को प्राप्त करता है और जगत् प्रपञ्च के जन्म स्थिति और लय का कारण बनता है। ईश्वर को अन्तर्यामी, नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता और सर्वशक्तिमान भी कहा गया है। शंकराचार्य ने एक स्थल पर अविद्या का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि -- देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या ततस्तत्पूजनादौ रागस्तत्परिभवादौ द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद् भयं मोहश्चेत्येवमय मनन्त भेदोऽनर्थव्रातः संततः सर्वेषांनः प्रत्यक्षः (१-३-२)। अन्य दर्शनों में भी अविद्या का स्वरूप इसी प्रकार वर्णित है। परमार्थतः अशरीर भी परमात्मा, अविद्या, तत्कार्य, बुद्यादि उपाधिवशात् शरीर तथा संसारी जीव के रूप में प्रतिभासित होता है। जीव भी संसारी नामरूप विशेष मात्र शरीरत्रयावछिन्न रागदोषादिद्वेष कलुषित धर्माधर्मादि फलस्वरूप संसार समस्तानर्थ व्रात सयाकुल सा प्रतीत होता है किन्तु वह इसका अपारमार्थिक जैव रूप है पारमार्थिक स्वरूप तो इसका ब्रह्म ही है जो ब्रह्म साक्षात् पर्यन्त अविद्या आवृत रहता है। अतः ब्रम्ह से भिन्न न होता हुआ भी जीव उपाधियों के कारण भिन्न सा प्रतीत होता है। यह जीव का एकत्व और नानात्व परस्पर विरोधी होते हुए भी असंगत नहीं कहे जा सकते क्योंकि भिन्न दृष्टि से दोनों उत्पन्न है।

जैसा कि पूर्व वर्णित है कि अविद्या दशा में जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रम्ह माया या अविद्या से आवृत सा रहता है और उपाधि कल्पित जैव रूप ही प्रकट रहता है। दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञति जीव का स्वरूप है। यह स्वरूप इस दशा में भी अनावृत्त रहता है अन्यथा व्यवहार नहीं बनता किन्तु अन्तर यह है कि सांसारित्व की अवस्था में विवेक विज्ञान अर्थात् ब्रह्मजीवैक्य ज्ञान की उत्पत्ति से पहले दृष्ट्यादि ज्योति स्वरूप शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना आदि उपाधियों से जीव अविविक्त सा रहता है। जीव का यह ज्योति स्वरूप अविवेकावस्था में कूटस्थ, नित्य स्वरूप नहीं आवीर्भूत होता किन्तु शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि संघात रूप उपाधियों से उपप्लुत अनवरत परिवर्तनशील, अनित्य अर्थात् उत्पाद विनाशशाली, परिच्छिन्न तथा मलीन सा प्रतीत होता है। इतना ही नहीं यह जीव शरीर मन बुद्धि चित्त अहंकार

व्यापार रूप कर्म के फलस्वरूप त्रिविधताप पिड़ित सा बना रहता है। इस बन्ध की निवृत्ति ब्रम्ह जीवैक्य रूप विवेक ज्ञान से अविद्यानिवृति के द्वारा होती है। तत्त्वमसि इत्यादि श्रुति वाक्यों से समुत्पन्न विवेक ज्ञान ही जीव का शरीर से समुत्थान अथवा अशरीरत्व है और अविवेक से उसका सशरीरत्व अथवा बन्ध है। यहाँ पर शंकराचार्य ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अत्रोच्यतेप्राग्विवेक विज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रिय मनो बुद्धि विषयवेदनोपाधि भिरविवक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिः स्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं चस्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधि भिरविवक्तमिव भवति। प्रमाणजनित विवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्। तथा देहाद्युपाध्यिविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानं शरीरसमुत्थानं विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाऽविवेक मायेत्रेवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च। तस्माद् विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेक विज्ञानादिर्भूतस्वरूप इत्युच्यते (ब्र० सू० श० भा० १-३-१९). "यदि संसार्येवात्माशरीरः कर्त्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्तर्हि फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात्। अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसर्ग रहितोऽपहतपात्मत्वादि विशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु (ब्र० सू० शां० भा० ३-४-८)। जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म मरण, परम्परापन्नत्व, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूपपंचक्लेश, भावनात्व, रागद्वेषादि दोष कलुषित त्व तथा तज्जन्य समस्त अनर्थ जाल ग्रसितत्त्व आदि जो भी सांसारित्व परिणाम क्रिया कलाप से प्रतीत होते हैं वे सब जीव में विवेकविज्ञानाभाव निबंधन और परिकल्पित से हैं।

ब्रह्म, माया और जीव के विवेचनोपरान्त आचार्य शंकर ने दुःख और दुःख के कारणों पर भी पर्याप्त विचार किया हैं। उनके मतानुसार जीव परमार्थतः शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा होता हुआ भी अविद्या वेशवशात् देहात्मभावापन्न सा होकर तत्कृत दुःख से अपने को दुःखी मान लेता है और इस

प्रकार अविद्याकृत दुःखोपभोग, अभिमानी होकर जीव संसार के नाना
क्लेशों तथा त्रिविध तापों का भाजन बन जाता है । यही सांसारित्व शा
त्व तथा अविद्याकृत विविध दुःखोपभोग, अभिमानित्व ही जीव का बन्ध
किन्तु यह दुःखाभिमान जीव का अद्याकृत नामरूपोपनत देहेन्द्रियादि उ
अविवेक निमित्तक अर्थात् मिथ्याभिमाननिमित्तक ही है परमार्थिक न

दुःख एवं दुःख के कारणों पर विचार करने के बाद अन्त में मोक्ष
भी विचार किया गया है । उपर्युक्त बन्धन से छुटकारा ही मोक्ष कहा
सकता है किन्तु पूर्ण विवेचन करने पर अविद्यानिमित्तक जीवभाव
पदास से ब्रह्मभाव ही मोक्ष पदभाक् होता है। नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदा
स्वरूप ब्रह्म उपाधि योग से न तो वस्तुतः ईश्वर तथा जीव और न सं
कारण एवं संसारी, शारीर कर्त्ता, भोक्ता और बद्ध हो जाता है । यह
उपर्युक्त अविद्या प्रत्युपस्थापित बन्ध का निरास अविद्या निवृत्ति से स्व
हो जाता है और जीव की पारमार्थिक स्वरूपता जो आपाततः सत
किन्तु अविद्या वशात् आवृत या अनाविर्भूत सी बनो रहती है स्वतः आ
भूत हो जाती है । तात्पर्य यह है कि मोक्ष न केवल अविद्या तत्क
निवृत्ति है अपितु ब्रह्म भाव है ।

नामरूपप्रपञ्चप्रविलापन से ब्रह्मतत्व अवबोध होता है । अब प्रश्न
उठता है कि प्रपञ्चादि प्रविलापन क्या है । क्या यह अग्नि के प्रकृष्ट त
के संसर्ग धृतकाठिन्य के प्रविलय के समान है अथवा एक चन्द्र तिमि
कृत अनेक चन्द्र प्रपञ्च के समान अविद्याकृत नामरूप प्रपञ्च का विद्या
प्रविलयन है । दूसरा प्रश्न यह हैकि आदि मुक्त ने जब एक बार पृथि
यादि प्रविलय कर दिया तब पृथिव्यादिशून्य अन्य बद्ध जीवों का जगत्
जाएगा । इन सभी प्रश्नों का समाधान अविद्याध्वस्त प्रपञ्च के प्रत्याख्या
से ब्रह्म ही आवेदनीय है और एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा, तत
वमसि इन वाक्यों में ब्रह्म का आवेदन होने पर विद्या स्वयं उत्पन्न हो जा
है और अविद्या बाधित हो जाती है। उस दशा में नामरूप प्रपञ्च स्वप्न प्र
ञ्च के समान प्रविलीन हो जाता है । शंकराचार्य जीवनमुक्ति के सिद्धान्त

विश्वास रखते हैं। विद्या अर्थात् ब्रम्ह साक्षात्कार से अविद्या निवृत्ति हो जाने पर समस्त नामरूप प्रपञ्च का सद्यः उपसम हो जाता है। ज्ञान सेक्षीणावशिष्ट प्रारब्धकर्म को छोड़कर समस्त कर्म पुञ्ज दग्ध हो जाता है। इसका क्षय भोग से ही होता है और तदर्थ भोगावसान पर्यन्त शरीर बना ही रहता है। इस प्रकार सशरीर होता हुआ भी मुक्त जीवनमुक्त कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से आचार्य बादरायण द्वारा रचित ब्रम्हसूत्र के विषयवस्तु का स्वरूप उभरकर सामने आता है। आचार्य बादरायण ने भी अपने ब्रम्हसूत्र में इसी ब्रम्हविद्या या ब्रम्हज्ञान का व्याख्यान किया है माध्वाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में वेदान्त सूत्र का विषयवस्तु प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि-: 'तत्र वेदान्तशास्त्रं चतुर्लक्षणम्'। भगवता बादरायणेन प्रणीतस्य वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यग्ब्रम्हैक्यं विषय इति शंकराचार्याः प्रत्यपीपदन्। तत्र प्रथमे समन्वयाध्याये सर्वेषां वेदान्तानां ब्रम्हणि तात्पर्येण पर्यवसानम्। द्वितीयेऽविरोधाध्याये सांख्यादितर्कविरोधनिराकरणम्। तृतीये साधनाध्याये ब्रम्हविद्यासाधनम्। चतुर्थे फलाध्याये विद्याफलम्। अर्थात् शंकराचार्य ने आचार्य बादरायण द्वारा प्रणीत वेदान्तशास्त्र ब्रम्हसूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रम्ह का साक्षात्कार ही माना है। इस सम्पूर्ण शास्त्र को चार अध्यायों में विभक्त करके भाष्य किया है। प्रथम अध्याय में शंकराचार्य ने सभी सामयिक वेदन्तों का परम लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार में ही पर्यवसित होता है यह लक्ष्य सिद्ध किया है और इस अध्याय का नाम समन्वयाध्याय अर्थात् सभी मतों का समन्वय या पूर्वपक्ष द्वारा उठाई गई आपत्तियों, ब्रह्मविषयक आपत्तियों का सूत्रों के परस्पर समन्वय द्वारा परिहार है। दूसरे अध्याय में अन्य सभी मतों का खण्डन करके ब्रह्म प्रतिष्ठापन किया गया है इसी लिए इस अध्याय का नाम उन्होंने अविरोधाध्याय रखा है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मविद्या के साधन का उपाय एवं साधन की विधि का वर्णन किया गया है इसी लिए इसको साधनाध्याय कहा गया है। चतुर्थ और अन्तिम अध्याय में ब्रह्मविद्या का फल अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार, मुक्ति और जीव के पुनः आगमन अनागमन का व्याख्यानकिया गया है। इसी लिए इसको फलाध्याय

कहा गया है। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से ब्रह्म ही है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र के प्रत्येक अध्यायों को चार पादों में विभाजित किया गया है। आचार्य माधवाचार्य ने इन अध्यायों के पाद विभाजन एवं प्रत्येक पाद के प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का निम्न रूप से उल्लेख किया है—

तत्र प्रत्यध्यायं पादचतुष्टयम्। तत्र प्रथमास्याध्यायस्य प्रथमे पादे स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गं वाक्यजातं मीमांस्यते। द्वितीयेऽस्पष्टब्रम्हलिङ्गमुपास्य विषयम् तृतीये तादृशं ज्ञेयविषयम्। चतुर्थेऽव्यक्ताजपदादि संदिग्धं पदजातमिति।

अविरोधस्य द्वितीयस्य प्रथमे सांख्ययोगकणादादिस्मृतिविरोधपरिहार द्वितीये सांख्यादिमतां दुष्टत्वम्। तृतीये पञ्चमहाभूतश्रुतीनां जीवश्रुतीनां च परस्परविरोधपरिहारः। चतुर्थे लिंगशरीर श्रुतीनां विरोधपरिहारः। अर्थात् प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट रूप से ब्रह्म को बतलानेवाले वाक्यों की मीमांसा की गई है। दूसरे पाद में अस्पष्ट ब्रह्म की उपासना विषयक वाक्यों पर विचार किया गया है। तीसरे पाद में भी इसी विषय को आगे बढ़ाया गया है चतुर्थ पाद में अव्यक्त आदि संदिग्ध वाक्यों की समीक्षा हुई है।

अविरोध नामक दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य, योग, न्याय आदि स्मृतियों का ब्रह्मविषयक विरोध का सामाधान किया गया है। दूसरे पाद में सांख्यादि मतों में दोष निकाले गये हैं। तीसरे पाद में पञ्चमहाभूतों का विधान करने वाली श्रुतियों एवं जीव विषयक श्रुतियों के परस्पर विरोध का निवारण किया गया है। चतुर्थ पाद में लिङ्ग शरीर का वर्णन करनेवाली श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ अध्याय का भी विषय-वस्तु प्रस्तुत किया है यथा— तृतीयस्य प्रथमे जीवस्य परलोकगमनागमनविचार पुरस्सरं वैराग्यम्। द्वितीये त्वंपदतत्पदार्थपरिशोधनम्। तृतीये सगुणाविद्यासु गुणोपसंहारः। चतुर्थे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिरङ्गान्तरङ्गाश्रमयज्ञशमादि साधनम्।

चतुर्थस्य प्रथमे ब्रह्मसाक्षात् कारेण जीवतः पापपुण्यक्लेश वैधुर्यलक्षण मुक्तिः। द्वितीये मरणोत्क्रमणप्रकारः। तृतीये सगुणब्रह्मोपासकस्योत्तरमार्गः

चतुर्थे निर्गुणसगुणब्रह्मविदोर्विदेह कैवल्यब्रह्मलोकावस्थानानि । तदित्थं ब्रह्मविचारशास्त्राध्याय-पदार्थ सग्रहः । अर्थात् तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में जीव के परलोकागमन संबंधी प्रश्न पर विचार करने के उपरान्त वैराग्य के ऊपर विचार किया गया है। द्वितीय पाद में तत्त्वमसि महावाक्य के त्वम् और तत् पदों के अर्थ का अनुशीलन किया गया है । तृतीय पाद में सगुण ज्ञान के विषय में गुणों का उपसंहार या अन्यत्र प्रतिपादित गुणों का संकलन किया गया है । चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म की विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनों जैसे आश्रम, यज्ञ तथा शमाद्धि का निरुपण हुआ है ।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में जीवनमुक्ति अर्थात् जीते जी ही व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त होती है जिसमें पाप, पुण्य और क्लेश का सर्वथा विनाश हो जाता है । द्वितीय पाद में मरण और स्वर्ग गमन के प्रश्न पर विचार किया गया है । तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले व्यक्ति के मरणोत्तर मार्ग का वर्णन किया गया है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म वेत्ता और सगुण ब्रह्मवेत्ता की क्रमशः विदेहमुक्ति और ब्रह्मलोक में अवस्थिति का निरुपण हुआ है ।

ब्रह्मसूत्र के प्रत्येक अध्याय एवं पाद के अधिकरणों एवं सूत्रों की संख्या भी निम्नतालिका के अनुसार सर्वदर्शन संग्रह के टीकाकार– डा० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने निम्न प्रकार से प्रस्तुत की है:—

अध्याय	पाद	अधिकरण		सूत्र	
प्रथम	१	११		३१	
,,	२	७	४०	३२	१३४
,,	३	१४		४३	
,,	४	८		२९	
द्वितीय	१	१३		३७	
,,	२	८	४७	४५	१५७
,,	३	१७		५३	
,,	४	९		२२	
तृतीय	१	६		२७	

अध्याय	पाद	अधिकरण		सूत्र	
तृतीय	२	८	६७	४१	१८६
,,	३	३६		६६	
,,	४	१७		५२	
चतुर्थ	१	१४		१९	
,,	२	११		२१	
,,	३	६	३८	१६	७८
,,	४	७		२२	
		१९२		५५६	

आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में सर्वप्रथम उपोद्‌धात में ही यह निरुपित किया है कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय धर्म न होकर ब्रह्म हैं। सभी धर्म, वचन, ब्रह्म को ही प्राप्तव्य वस्तु कहते हैं और इस ब्रह्म के ज्ञान और प्राप्ति की इच्छा से तपस्वी जन तपस्या करते हैं और ब्रह्मचारी ब्रह्म का पालन करते हैं। जो ब्रह्मात्मा नित्य, सत्य, भाषण, नित्य तप और नित्य ब्रह्मचर्य तथा सम्यक विवेक विज्ञानादि रुप ज्ञान से प्राप्त होता है उस ब्रह्मात्मा रुप वस्तु का 'ओम्' इस शब्द से निर्वचन किया गया है। इस निर्वचन के अनुसार धर्मादि के बोधक वचनों को वेद कहते हैं। यौगिक, रुढ़ और योगरुढ़ एवं यौगिकरुढ़ भेद से युक्त अर्थ बोधक पद चार प्रकार के होते हैं। यहाँ प्रकृति प्रत्ययादि रुप अवयवों के पद के अर्थों को कहनेवाले यौगिक पद होते हैं। अवयवों की शक्ति के बिना समुदाय शक्ति से अर्थ का बोध करानेवाले पद रुढ़ होते हैं। अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति दोनों से एक ही अर्थ की प्रतीति करानेवाले पद को योगरुढ़ कहा जाता है तथा अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति से भिन्न-भिन्न अर्थों को कहने वाले पद यौगिकरुढ़ कहलाते हैं। प्रकृति में वेद शब्द ऋगवेदादि अर्थ में पंकज पद के समान योगरुढ़ है जो ऋगवेदादि ईश्वरानुगृहीत सर्गादिकालिक परम पवित्र देव ऋषि जन से ज्ञात, स्यूत और प्रचारित है। इसी से वेदाभ्यासस्तपोज्ञान इन्द्रियाणि च संशय अहिंसा गुरु सेवा च निःश्रेयस्करम परम् ॥ सर्वेषामपि चैतेषां आत्मज्ञानम् परमस्मृतम् तव्यय सर्व विद्यानाम् प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ऐसा मनुस्मृति में कहा गया है। वेद भी कहता है कि तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। अब यहाँ पर शंकर

होती है कि यदि वेद भी ब्रह्म विषयक विचार को ही प्रधानता देता है तो शत्रु-मारणादि तथा रागद्वेषादिमय कर्मों का उपदेश क्यों देता है ? इसका समाधान यह है कि वेद प्राणिमात्र के हित के लिए है । वहाँ अत्यन्त कामी, क्रोधी तथा अत्यन्त जड़ के लिए उद्धार का मार्ग न बतायेंगे तो परिणाम यह होगा कि ये लोग अत्यन्त उच्छृंखल होकर सर्वथा नष्ट हो जाएंगे इसलिए अपरिमित राग द्वेष ईर्ष्यादि को छुड़ाकर परिमित में लाते हैं जिससे श्रद्धालू सदाचारी अग्नि वरूणादि नाम वाले, औपाधिक स्वरुप वाले ब्रह्मात्मा के पूजक भी धीरे-धीरे निजात्म तत्व का ज्ञान करके मुक्त हो जाता है और न मुक्त होने की दशा में भी काम्य कर्मों का फल पाकर सुखी हो जाता है ।

ब्रह्म का विचार, उसके अस्तित्व का विचार कर लेने के उपरान्त आचार्य शंकराचार्य ने ब्रह्मसिद्धि के प्रमाणों पर भी विचार किया है । इनके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र रुप शव्द प्रमाण से ही धर्म तत्व का ज्ञान और उसकी प्राप्ति से मुक्ति हो सकती है । प्रमाण का लक्षण करते हुए उन्होंने बताया कि जिस लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है वहाँ सजातीय विजातीय से वस्तु के स्वरुप को व्यावर्तक धर्म को लक्षण और ज्ञातब्य वस्तु के यथार्थ ज्ञान के हेतु को प्रमाण कहते हैं । ये उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि संभव और ऐतिह्यादि प्रमाणों को प्रत्यक्षादि के अन्तर्गत ही मानते हैं । अगर इनकी पृथक सत्ता सिद्ध भी होती है तो भी वे इसकी जरुरत नहीं मानते । धर्म तत्व के ज्ञान के लिए आचार को प्रथम सोपान मानते हैं । जिन आचारों के द्वारा धर्म की शुद्धि होती है वे धर्म धर्मशास्त्रों में दस लक्षण वाले कहे गए हैं । मनुस्मृति में धृति, क्षमा दमोऽस्तेय शौचं इन्द्रिय निग्रह. धीर विद्या सत्यम अक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम् इत्यादि वचन के अनुसार योग युक्त मन प्राण इन्द्रिय की क्रिया को कुमार्ग से रोकने वाले संतोषादिरुप धैर्य, क्षमा, मन का दमन रुप दम निषिद्ध द्रव्य का त्याग रुप अस्तेय, इन्द्रिय, तन, मन, धनादि की शुचिता विरुद्ध विषयों से इन्द्रियों का निरोध, शास्त्रादि का ज्ञानरुप ही (विवेक), आत्म विद्या, सत्य भाषण, काम, क्रोध, लोभ का त्याग ये धर्म के दस स्वरुप कहे गये हैं । इस वचन में भी इज्याचार दमाहिंसा दानं स्वाध्याय कर्म च, अयं तु परमो धर्मः यज्जोगेनात्म दर्शनम् इत्यादि याज्ञवल्क्य स्मृति में विशेष विचार है । इसमें परम धर्म के रुप में योग द्वारा आत्म-स्वरुप का दर्शन ही परम धर्म कहा गया है । निष्काम कर्म, भक्ति और ध्यानादि

रुप योग से आत्मज्ञान रुप धर्म की प्राप्ति होती है। यहां से ही न्याय वैशेषिक दर्शन का प्रारम्भ होता है क्योंकि योग से द्रष्टव्य जिस आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो, मैत्रेयात्मनो वा अरे दर्शनेन् श्रवणेन् मत्या बिज्ञानेन् इद सर्वं विदितम् इस उपनिषद वाक्य के द्वारा श्रवण मनन निदिध्यासन का विधान किया गया हैं। यह आत्मतत्व ही ब्रह्म, विभु, त्रिविध भेद-रहित है। सव जीव जगत् ईश्वर का एक पारमार्थिक स्वरुप है। उसके दर्शन से ही सब संसार के दर्शन हो जाते हैं। ब्रह्म का स्वरुप भिन्न-भिन्न शास्त्रों में अलग बताया गया है। तैनिरीय में सत्यं ज्ञानमनन्दं ब्रह्म कह करके सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरुप ब्रह्म का निरुपण किया गया हैं। छान्दोग्य इस विषय में शब्द को ही ब्रह्म मानता है। उसके अनुसार कं ब्रह्म खं ब्रह्म तथा सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्विती यं स आत्मा, तत्त्वमसि, भूमैव सुखम आत्मानन्द: स स्वराड् भवनि अर्थात् सुखस्वरुप विभ ही ब्रह्म है। वह संसार सृष्टि के पहले सद्ब्रह्म मात्र था इसके एक और सब द्वैत यानि भेद से रहित था, वही सर्वात्मा है इस जीव भी उसी का स्वरुप है। वह ब्रह्म ही सुख-स्वरुप है उसको जाननेवाला स्वात्मानन्द स्वरुप और स्वयं प्रकाश स्वरुप मुक्त हो जाता है। यह दर्शन का प्रथम सोपान माना जाता है। इन वचनों के सिद्ध होते हुए भी जो दर्शन आत्मा को सत्य स्वरुप, विभु या एक देशी कहता है उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता और प्रथम सोपान ही कहा जाना चाहिए। उनका भी दर्शन के क्षेत्र में स्थान है। प्रथम सोपांन को पार करके ही द्वितीय सोपान का अधिकारी होगा। सत्यात्मा और ईश्वरादि को भिन्न समझकर सत्कर्म, भक्ति उपासनादि करते करते साधक दूसरे सोपान में उसके स्वरूप को समझ सकता है।

अविद्यादि क्लेशों के रहने पर ही जन्म, आयु तथा भोगरुप कर्मों के फल होते हैं अन्यथा नहीं। इससे क्लेशों को शिथिलादि करने के लिए असङ्ग सत्य चेतनात्मा के बिवेकादि का विधायक सांख्य और योग दोनों दर्शन द्वितीय सोपान हैं। इस सोपान में असङ्ग निर्विशेष आत्मा में भेद का स्वीकार प्रकृति आदि में स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार आदि ही तृतीय सोपान है। असङ्ग एक सत्य तत्व के ज्ञानपूर्वक अन्य सब को मिथ्या समझते ही क्लेशों की अत्यन्त निवृति श्रुति अनुभव के अनुसार हो सकती है अन्यथा नहीं। क्योंकि सत्य प्रेय के लिए सब रागादि को सत्य प्रकृति अवश्य करेगी। उसके

यह स्वभाव है कि वृत्तिरुप ज्ञान काल में लज्जित सा होने पर भी वृत्ति की निवृत्ति-काल में अवश्य पुरुष को भोग देने के लिए फिर प्रवृत्त होगी। बन्धन का हेतु रूप अविद्यादि जब मिथ्या अनिर्वाच्य है तब तो अविद्या के विरोधी विद्या से उसकी सर्वथा निवृत्ति होती हैं इस अविद्यादि जन्य अहंकारादि रूप बीजाकुंर न्याय से अनादि अन्तः-करणादि में सूर्य कान्तादि व्यक्त सौर तेज के समान अभिव्यक्त चिदात्मा रूप व्यष्टि व्यावहारिक जीव उस अविद्या की निवृत्ति से मुक्त होता है और निर्वाण पद को पाता है। यही निर्वाण पद कैवल्य है अन्य नहीं।

स्वप्नकालादि में प्रतीत होनेवाला और जाग्रत आदि से निवृत्त होनेवाला जीव का प्रातिभासिक स्वरूप है जिसका वृहदारण्यक में बहुरूप और क्रियादिरूप युक्त वर्णन किया गया है। वे सब सत्यात्मा से और असत् गगन पुष्पादि से भिन्न होने से अनि-र्वचनीय और प्रातिभासिक (प्रतीति काल तक रहनेवाले) है। सत्यासत्यादि से भिन्न होने को ही अनिर्वचनीय कहते हैं। उक्त सत्यासत्य से भिन्न होने के कारण माया सहित सब जगत् और व्यावहारिक जीव भी अनिर्वचनीय है इसलिए सच्चिदानन्दादि रुप से निर्वचनीय परिणाम क्रियादि रहित ब्रह्मात्मा एक ही है। स्वप्न की प्रतीति स्मृति रुप नहीं हैं क्योंकि स्वप्न में वस्तु का साक्षात् दर्शन होता है एवं शब्द का श्रवण होता है। इसलिए एक स्वतन्त्र ब्रह्म सब प्राणी के सत्यात्मा ही उपाधियों में अभिव्यक्ति रूप प्रतिबिम्ब आभास द्वारा अपने मिथ्या वहुत स्वरूपों को करता है वही व्यावहारिक जीव है। उस एक रस रहनेवाले साक्षी स्वरूप आत्मा के आगे स्थूल देह से युक्त होकर लिङ्ग सूक्ष्म देह भासता है और वही लिंग देह चेतनात्मा की छाया के प्रवेश से व्याव-हारिक जीव होता है। यह जीव स्थूल देह काल में हृदय के अन्दर दीप शिखा के समान रहता है और सम्पूर्ण देह में दीप प्रभा के तुल्य रहता है। देह में रहते हुए भी बाहर नेत्र द्वारा प्रभा तुल्य निकलता है इससे संकोच विकास वाला है। सत्यात्मा एक ही है इसी जीव की जीवता के आरोप भ्रम से सत्यात्मा भी अनेक भासता है। शंकरा-चार्य इस भ्रम का नाम अध्यास कहते हैं। अध्यास के द्वारा ही मिथ्या ज्ञान होता है और इस अध्यास का निवारण करने से सत्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सर्वात्मा स्वरूप ईश्वर प्रलय के बाद फिर सृष्टि काल में पूर्व सृष्टि के बिखरे हुए सच्चे परमाणुओं को नहीं समेटने लगता। किन्तु वह ब्रह्म सृष्टि से प्रथम माया स्वरूप स्वधासहित एक ही

वर्तमान था इससे भेद युक्त अन्य कुछ नहीं था। अविद्या माया रूप तम था। तम से छिपा हुआ सब कार्य और ब्रह्म था। उसके सत्य शरीर इन्द्रियादि न थे, न हैं। उसके तुल्य या अधिक दीखता है किन्तु स्वाभाविक उसकी विविध प्रकारवाली उत्तम शक्ति सुनी जाती है तथा ज्ञान क्रिया और बल क्रिया सुनी जाती है। यदि ईश्वर पूर्व सृष्टि के परमाणुओं से ही फिर संसार की रचना करेगा तो मानव ने कितने ही पत्थर आदिकों को जलाकर राख कर दिया है उनके परमाणुओं को वह कहाँ से ढूँढेगा। इससे माया रूप शक्ति से ही ईश्वर के द्वारा सब कार्य अनायास साध्य हैं।

इस प्रकार वेदान्त दर्शन में उपोद्घात रुप संगत से सर्वप्रथम अध्यास भाष्य का प्रारम्भ हुआ है। भाव यह है कि आरम्भ मीमांसा के प्रथम सूत्र अथातो ब्रह्म जिज्ञासा में आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादि श्रुति बोधित आत्म दर्शन के सफल होने से उस दर्शन के लिए ब्रह्म जिज्ञासा को कर्तव्य बताया गया। संशय भ्रमादि की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मात्म रुप मोक्ष की प्राप्तिरुप मीमांसा के प्रयोजन को सूचित किया गया है तथा ब्रह्म को ही शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय दर्शाया गया है और 'अथ' शब्द से विवेकादि युक्त अधिकारी की सूचना की गई है। अधिकारी आदि का विषयादि से प्राप्य प्रापकादि भाव रुप संबंध स्वयं लभ्य है। इस बात को भी सूत्र से दर्शाया गया है। इससे शास्त्र में प्रवृत्ति के हेतु रुप अनुबन्धों को भी दर्शाया गया है। शास्त्र को सफल और आरम्भ योग्य दर्शाकर 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि रुप शास्त्र का आरम्भ किया गया है। परन्तु यह सब तभी घटित होता है जब ज्ञान से मुक्ति माना जाय और ज्ञान से मुक्ति तभी हो सकती है जब जन्मादि रुप बन्ध को सत्यात्मा में भ्रम से माना जाय और आत्मा का संशय या भ्रम माना जाय तभी मीमांसा जन्य ज्ञान से अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मैं सदा रहनेवाला हूं, ईश्वर है, ब्रह्म है इस प्रकार का निश्चय ज्ञान यद्यपि साधारण लोगों को भी रहता है और उससे उनको मुक्ति नहीं मिलती तथा प्रत्यक्ष निश्चित रुप से ज्ञात आत्म ब्रह्म विषयक भ्रम संशय भी नहीं रह सकते। इससे शास्त्र का आरम्भ ही निष्फल है ऐसी शंका होने पर 'मैं हूं' इत्यादि ज्ञान को भ्रम संशयादि रुप समझाने के लिए और निजात्मभिन्न रुप से ईश्वर ब्रह्मज्ञान को भ्रम रुप समझाने के लिए तथा इन भ्रमों की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मात्मा को साक्षात् सच्चिदानन्द सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान रुप समझाने के लिए ही शंकराचार्य ने इस अध्यास विषयक

पूर्वपक्ष से ही अपने भाष्य का आरम्भ किया है। यहाँ पर पूर्वपक्षियों का कहना है कि ब्रह्मजिज्ञासा के लिए कोई जरुरत नहीं हैं क्योंकि मनुष्य का परम लक्ष्य मोक्ष ही है वह कर्मोपासनादि द्वारा लक्ष्य है । अतः ब्रह्मजिज्ञांसा आदि की जरुरत नहीं है। इस पर आचार्य का कथन है कि युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषय विषयिणो तमः प्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यो:स्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं, युक्तम् ।

विपक्षियों का कहना है कि यद्यपि लोक में व्यावहारिक वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार अध्याश्रय रज्जुयुक्ति शुक्ति आदि का सामान्य रुप से ज्ञान और उसका विशेष रुप से अज्ञान और प्रमाता में भय-लोभादि रुप दोष नेत्रादि रुप प्रमाणों से मंदता आदि रुप दोष प्रमेय रज्जु, सर्प, शुक्ति, रजत आदि में सदृश्यता रुप दोष रहने से मिथ्या सिद्ध होते हैं और आत्मा में अहंकार, अन्तः करण, धर्माधर्मादि, शरीरादि के अध्यास में या आत्मा के चेतनता आदि के अन्तः करणादि शरीरादि विषयक अध्यास में उक्त संस्कार आदि कोई कारण नहीं है । क्योंकि अन्तः करणादि आत्मभिन्न कोई वस्तु सिद्धान्त में नहीं है। आत्मा असंग है तथा युष्मद् प्रत्यय का विषय आनात्मा अन्तः करणादि और अस्मद् प्रत्यय का विषय आत्मा जों विषय और विषयी स्वरुप होने से तम और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं, सर्वथा अध्यास के हेतु सादृश्य दोष शून्य है । उनकी परस्पर तादात्म्य की अनुपपति सिद्ध होने पर उनके धर्मों का भी परस्पर तादात्म्य रुप अभेदाध्यास की अयुक्तता सुतरां सिद्ध होती हैं । इस पूर्वोक्त हेतु से अह इत्यादि ज्ञान का विषय और विषयी चेतनात्मक वस्तु में तुम आदि ज्ञान के विषय, अनात्मा और उसके धर्मों का अध्यास होना मिथ्या है।

इसका उत्तर देते हुए ये कहते हैं कि सादि अनादि भेद से दो प्रकार के अध्यास होते हैं वहाँ व्यवहारिक सत्य के ज्ञानजन्य संस्कारादि प्रतिभासिक अध्यास के हेतु उक्त रीति से होते हैं सो ठीक ही कथन है। किन्तु बीजांकुर न्याय से अनादि व्यवहारिक अध्यास में यह नियम नहीं है । पूर्व सृष्टि आदि के मिथ्या ज्ञान जन्य मिथ्या सस्कारादि से ही उत्तर अध्यास होते हैं और उनसे फिर मिथ्या संस्कारादि होते हैं तथा अविद्या, अविवेक अज्ञानादि नाम तथा स्वरूपवाली माया ही सब दोषों के स्थानापन्न

अनादि अध्यास में रहती है। माया में अद्भूत शक्ति है। सृष्टि के आदि काल में ईश्वरीय संकल्प मात्र से जैसे ब्रह्म आदि की सृष्टि करके योनिज सृष्टि रचती है एव मत्कुण आदि को प्रथम उष्मा मलादि से पैदा करके फिर अंडजादि रुप से उत्पन्न करती है वैसे ही सत्य ज्ञानज संस्कार आदि के बिना अनादि मिथ्या कर्म रुप वासनादि अन्य मिथ्या अध्यासों को रचकर फिर तदधीन अन्य अध्यासों को विशेष तत् तत् सामग्रियों से रचती हैं।

इस पर पूर्व पक्षी प्रश्न करते हैं कि यह अध्यास क्या है ? इसके लक्षण क्या हैं ? उत्तर देते हैं कि जो ज्ञान स्मृति के समान संस्कार जन्य होने से स्मृति रुप असमीपपर्ती वस्तु विषयक हो उस ज्ञान का विषय वहाँ सत्य नहीं हो इसी से जो अन्य वस्तु शुद्धि आदि में अन्य रजतादि का अवभास यानि मिथ्या ज्ञान हो उसको अध्यास कहते हैं। वह पश्र, शुद्धि में पूर्व दृष्टि रजत का अवभास रुप है, इसी प्रकार के सादि अनादि सब अध्याम होते हैं। इमे हो सौत्रान्तिक या बुद्ध मतानुयायी अन्यत्र बाध्न वस्तु में विज्ञान रुप आत्मा के धर्म रुप रजतादि का अध्यास कहते हैं और अन्य थाख्याति वादी नैयायिक रजत का धर्म रजतत्व की शुद्धि में प्रतीति को या रजत विषयक धर्म की शुद्धि में प्रतीति को अध्यास कहते हैं। असन्निहित की प्रतीति रुप अध्यास को असम्भव समझकर प्रभाकरादि कहते हैं कि जिस शुद्धि में जिस रजत का अध्यास होता हैं वहाँ शुद्धि और रजत के विवेक ज्ञान भाव निमित्तक भ्रम कहा जाता है। अर्थात् जहाँ पूर्व दृष्ट रजत का स्मरण होता है और शुक्ति के इदं अश का नेत्र से अपरोक्ष ज्ञान होता है वहाँ प्रत्यक्ष और स्मरण रुप दोनों ज्ञान और दोनों के विषय सत्य ही रहते हैं परन्तु उस समय विषय और ज्ञान का विवेक पृथकता के ज्ञान के नहीं रहने से वह समूह ज्ञान भ्रम कहलाता है। यहाँ पूर्व पक्षी शंका करते हैं कि बाहर की शुक्ति आदि वस्तु में उक्त रीति से सर्वमत सिद्ध अध्यास के होने पर भी प्रत्यगात्मा इन्द्रिय.दि का अविषय है। उस अविषय रुप अन्तरात्मा में अन्त: करणादि रुप वाध्य विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है। यदि आत्मा को भी अध्यास की सिद्धि के लिए किसी ज्ञान का विषय शुक्ति आदि के समान माने तो स्व सिद्धान्त का हो त्याग होगा। इससे आत्मा में अनात्मा का अध्यास कहना अनुचित है।

इसका उत्तर देते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है। अर्थात् स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि अविषय है तथापि अविद्या कल्पित अहं कारादि के अध्यास में ही उसके साक्षी रुप में आत्मा का प्रकाश होता है और इस भास तथा अध्यास का अनादि प्रवाह है इससे अन्योन्याश्रयादि नहीं है और चेतनात्मा स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि अविषय है तथापि औपाधिक कर्त्ता, भोक्तादि रुप जीव भाव से विषय है और अपरोक्षत्व होने से आत्मा की अप्रसिद्धि नहीं हैं किन्तु प्रसिद्धि है और अन्तरात्मा रुप से अत्यन्त प्रसिद्धि से ही स्वयं प्रकाशता रुप है और वह स्वयं प्रकाश रुप आत्मा स्वशक्ति रुप अविद्या, माया का विरोधी नहीं है। यह भी नियम नहीं हैं कि आगे स्थिर अपरोक्ष विषय में ही अन्य अनुपस्थित विषय का अध्यास होना चाहिए अन्यत्र नहीं। क्योंकि रुप स्पर्शादि के अभाव से अप्रत्यक्ष आकाश में भी लोग तल मलीनता आदि का जहाँ अध्यास करते हैं वहाँ नेत्रवृत्ति से व्यक्त साक्षीभास बहिरिन्द्रिय से-अप्रत्यक्ष आकाश में भी अध्यास होता है। इस प्रकार अध्यास की सिद्धि करके इस अध्यास की निवृत्ति करने के लिए ही और उस निवृत्ति के हेंतु आत्मा के एकता के ज्ञान की सिद्धि के लिए ही सब वेदान्त ग्रन्थ आरम्भ हुए हैं। यद्यपि वेदान्त में उपासनाओं का भी वर्णन है तथापि उन सब वेदान्तों का भी जिस प्रकार एकात्म ज्ञान रुप ही प्रयोजन हैं उसको भी आचार्य शंकर ने अपने शारीरिक भाष्य में स्थान दिया है। इसके आगे उन्होंने ब्रम्ह जिज्ञासा अधिकरण का प्रारम्भ किया है। अधिकरण प्रारम्भ की समीक्षा करते हुए माध्वाचार्य ने लिखा है- तत्र प्रथमधिकरण अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (ब्र० सू० १।१।१) इति ब्रह्ममीमांसारम्भोपयादन परम्। अधिकरणं च पञ्चा वयवं प्रसिद्धम। ते च विषयादयः पञ्चावयवा निरुप्यन्ते। आत्मावारे द्रष्टव्य (वृह० २।४।५) इप्येतद्वाक्यं विषयः। ब्रह्मजिज्ञासितव्यं न वेति संदेहः। जिज्ञास्यत्व व्यापकयो संदेह प्रयोजनयोः संभवासंभवाभ्याम्।

अर्थात् शंकराचार्य अपने प्रथम अधिकरण में ब्रह्मविचार अध्यास के निरुपण के बाद विचारणीय विषय है या नहीं इस प्रकार की शंका का निवारण करने हैं कि यद्यपि 'मैं देह नहीं हूं' इत्यादि परोक्ष ज्ञान किसी को होता है किन्तु स्थूलोऽहं कृशोऽहं इत्यादि वर्णित रीति से अविवेक अज्ञानपूर्वक अध्यास प्रत्यक्षसिद्ध है। इससे अध्यास के बिना देहेन्द्रियान्तः करणादि के साथ आत्मसंबंध की प्रतीति भी नहीं हो सकती और इस

संबंधाध्यास से ही आत्मा में ब्रह्मभिन्नत्वाभिन्नत्व, नित्यत्व, नित्यत्वानित्यत्व, एकत्वानेकत्वादि का संशय होता है और अज्ञान, अध्यास, संशयादि की ज्ञान द्वारा निवृत्ति से मुक्ति रुप फल होता है इससे ही वेदादि द्वारा ब्रह्म विचार कर्तब्य है । इसलिए आचार्य बादरायण ने ब्रह्म सूत्र में प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहा है। इसका भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते है कि– अत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थ, ब्रह्मजिज्ञासा अनधिकार्यतत्वात् । मङ्गलस्य च वाग्यार्थे:, समन्वयाभावात् । अर्थान्तरप्रयुक्ततो ह्यवाथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति । पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत् आनन्तर्याऽव्यतिरेकात् ।

इस प्रकार कीं पूर्वपक्षियों द्वारा शंकायें की जाती है जो उचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्त वेदाध्ययन् नियमेनापेक्षते, एव ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम् , स्वाध्यायानन्तर्य तु समानम् । नन्विह कर्मावबोधानन्तर्य विशेषः । न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्ते । यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विविक्षतत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताऽधिकारे वा प्रमाणाभावात्, प्रह्मजिज्ञासयो फलजिज्ञास्य भेदाच्च ।

अथ शब्द की व्याख्या के अनन्तर आचार्य शंकर ने अतः शब्द को हेतुवाचक माना है । इस विषय में लिखते हैं– अतः शब्द हेत्वर्थः । यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयः साधनानामनित्यफलतां दर्शयति- 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमवामुत्र पुण्यचितो लोक क्षीयते (छा० ८।१।६) इत्यादिः । तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परम पुरुषार्थ दर्शयति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' इत्यादिः । (तैत्ति० २।१) । तस्माद्यथोक्तसाधनसम्पत्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाण लक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति ।

इस प्रकार प्रथम सूत्र के द्वारा वेदान्त का जिज्ञास्य ब्रह्म है इसके द्वारो ब्रह्म है कहने के बाद जन्माद्यस्य यतः सूत्र के द्वारा ब्रह्म की मीमांसा करते हैं । इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए एक-एक पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुण संविज्ञानो बहुब्रीहिः, यत् इति कारणदिर्देशः । अस्य जगतो नाम रुपाभ्यां

व्याकृतस्यानेक कर्तंभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनासाऽव्य-चिन्त्यरचनारुपस्य जन्मस्थिति भङ्ग यतः सर्वज्ञात् सर्वंशक्तेः कारणाद् भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः।

ब्रह्म की सिद्धि कर लेने के बाद पुनः अन्य प्रमाणों पर व्याख्यान करते हुए अनुमानादि प्रमाणों की समीक्षा करते हैं। यहाँ पर सांख्याचार्यों का कथन है कि संसार का सत्व, रज, तम गुणयुक्त अचेतन प्रकृति ही कारण है। ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने इक्षतेर्नाशब्दम् सूत्र कहा है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सांख्य मत का खण्डन करते हैं। न सांख्यपरिकल्पितंऽचेतनं प्रधानं जगतः कारण शयम् वेदान्तेषु आश्रयितुम अशब्दं हितत्। यहाँ पर पूर्वपक्षी पुनः शंका करते हैं कि ईक्षण कृतृंत्व के सुनने से अचेतन प्रधान जगत का कारण नहीं है यह जो आप कहते हैं यह ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन में भी चेतनवत् का उपचार से दर्शन होता ही है। इस प्रकार तत्कर्तृंक भी औपचारिक ईक्षण है और इसके द्वारा अचेतनत्व जगत् कारणत्व बन जाता है जो कि अनुमान द्वारा सिद्ध है। इस पर सूत्र कार पुनः खण्डन करते हैं कि गौणश्चेन्नऽनात्मशब्दा और तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्। 'गतिसामान्याश्रुत-वाच्चं'। अब यहाँ पर एक प्रश्न और उठता है कि तैतिरियोपनिषद की ब्रह्मानन्दबल्ली में सर्वात्मिस्वरुप परं ब्रह्म परमेश्वर से ही आकाशादि के क्रम से सृष्टि बतायी गयी है। इसी प्रसग में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयं और आनन्दमय इन पाँच पुरुषों का वर्णन आया है। आनन्दमय को अन्तरात्मा कहा गया है अतः आनन्द मय नाम से यहाँ पर किसका वर्णन हुआ है, परमेश्वर का था जीवात्मा का अथवा किसी अन्य का। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि आनन्दमय शब्द से वृहदारण्यक तथा तैतिरिय में ब्रह्म के अर्थ में ही बार-बार प्रयोग हुआ है तब शंका होती है कि चुंकि इस में नया शब्द लगा हुआ है और वह विकार अर्थ का बोधक है अतः जिस प्रकार अन्नमय आदि शब्द ब्रह्म के वाचक नहीं है उसी प्रकार आनन्दमय शुद्धि परब्रह्म का वाचक नहीं होना चाहिए इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यहाँ मयक् प्रत्यय विकार अर्थ में नहीं प्राचूर्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और आनन्दमय का अर्थ होता है- आनन्द धन। परमेश्वर आनन्द धन स्वरुप है इसलिए यहाँ मयक् प्रत्यक्ष को विकार बोधक न मानकर प्रचुरता का बोधक मानना उचित है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ब्रह्म आनन्दमय, आकाश

ज्योति तथा प्रांण आदि नामों से उपनिषदों में गीत बताया गया है। दूसरे पाद में छान्दोग्योपनिषद में वर्णित मनोमय प्राण शरीरः आदि वचनों पर विचार किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद में पहले तो सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मरुप समझकर उसकी उपासना के लिए कहा गया है तथा सत्य संकल्पा, आकाशत्मा और सर्वकर्मा आनि विशेषण दिए गए हैं। तत्पश्चात् ब्रह्म को ही अणीयान् अर्थात्-अत्यन्त छोटा और ज्यायान अर्थात् सबसे बड़ा बताकर हृदय के भीतर रहने वाला अपना आत्मा और ब्रह्म भी कहा है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि उपस्थित देव कौन है जीवात्मा या परमात्मा अथवा कोई अन्य ।

इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'सर्वचप्रसिद्धोपदेशात्' अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों में प्रसिद्ध परब्रह्म का ही उपास्य देव के रुप में उपदेश हुआ है इसलिए परब्रह्म ही उपास्य देव हैं। जो लोग जीवात्मा में अन्नमय, मनोमय, प्राणमय आदि विशेषण को युक्त मान उसे ही उपास्य मानते हैं वह उचित नहीं क्योंकि ये सभी विशेषण ब्रह्म में ही उपपन्न होते हैं जीव में नहीं पाये जाते । ब्रह्म की उपासना के विषय में ही स्मृतियों ने और गीता ने भी उपदेश किया है। जो लोग छान्दोग्य उपनिषद के वर्णिति हृदय प्रदेश में स्थिर ब्रह्म के लघु रुप और आकाश स्थित ब्रह्मरूप, सर्वब्यायी रूप को लेकर के शंका करते हैं वह भी उचित नहीं हैं। क्योंकि यह ईश्वर की सर्वव्यापकता का सूचक है न कि उसके परिमाण का बोधक। कुछ लोग ब्रह्म के विषय में ऐसी भी शंका करते हैं कि सबके हृदय में होने से चेतन होने के कारण उसको भी भोग की प्राप्ति होती होगी किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि उसमें विशेषता है। वह न कर्त्ता है न भोक्ता है। वह सर्वथा असङ्ग है निर्विकार है, साक्षी है। फिर भी शंका करने वाले कहते हैं कि कठोवनिषद में उसे भोक्ता कहा गया है। यहीं पर शंका समाधान करते हैं कि भोक्ता के रुप में वह प्रलय काल में चर-अचर का भोक्ता है अर्थात् उसको अपने में विलीन कर लेता है। अब एक प्रश्न और उभरकर आता है कि ये सभी धर्म प्रकृति और जीवात्मा में भी पाये जाते हैं अतः क्यों न हम प्रकृति को या जीवात्मा को ही अन्तर्यामी और ब्रह्म मानकर उपासना करें। यहाँ पर कहते हैं कि प्रकृति को उपास्य नही माना जा सकता क्योंकि वह जड़ है, चेतन नहीं इसलिए सांख्य स्मृति द्वारा प्रतिपादित प्रकृति उपास्य नहीं हो सकती जीवात्मा भी नहीं हो सकता क्योंकि

सभी विद्वानों ने उस अन्तर्यामी ब्रह्म को जीवात्मा से भिन्न मानकर ही वर्णन किया है। आचार्य बादरायण का कथन है कि परब्रह्म परमेश्वर यद्यपि देशकालातीत है तो भी निरन्तर भजन, ध्यान और स्मरण करने के लिए विराट् स्वरुप मानने, कहने और समझने में कोई विरोध नहीं होता है। इसी सर्वमय, वैश्वानर नाम-से विख्यात् परब्रह्म का ही जैमिनी और आश्मरथ्य आदि आचार्यों ने वर्णन किया है।

तीसरे पाद में परमेश्वर को सबका आधार बतलाया गया है और उसका आयतन स्वर्ग और पृथ्वी आदि बताया गया है क्योंकि परमात्मा को छोड़कर अन्य कोई जीवात्मा या प्रकृति इस सम्पूर्ण का आधार नहीं हो सकता। इसके आगे यह प्रश्न उठाते हैं कि प्रत्येक कल्प में देवताओं आदि के नामरुप बदल जाने के कारण वेदोक्त शब्दों की नित्यता में दोष कैसे नहीं आयेगा। इस जिज्ञासा पर आचार्य बादरायण कहते हैं कि समाननामरुपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च' अर्थात् नाम रुप बदलने पर भी देवादिकों के प्रथम कल्प के सामान ही नामरुप हुआ करते हैं इस कारण पुनः पुनः आवृत्ति होने पर भी कोई विरोध नहीं होता। स्मृतियाँ भी यही बात कहती हैं। यहाँ पर जैमिनि कहते हैं कि वेदों में वर्णित मधु विद्या देवताओं के लिए नहीं है इस लिए यह सिद्ध होता हैं कि जैसे मनुष्यों के लिए यज्ञादि कर्म द्वारा स्वर्गादि प्राप्ति करानेवाली विद्याओं में देवताओं का अधिकार नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म विद्या में भी उनका अधिकार नहीं है किन्तु आचार्य बादरायण कहते हैं कि ब्रह्मविद्या में देवताओं का अधिकार है क्योंकि वेदों में उनका यह अधिकार सूचित करने वाले वचन मिलते हैं।

इसके आगे शूद्रों का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं इस प्रकार का प्रश्न उठाया गया है। यहाँ पर आचार्य बादरायण ने कहा है कि उक्त प्रसङ्ग में जिसे शूद्र कहा गया मूलतः वह जनश्रुति, चैत्ररथ के सम्बन्ध से क्षत्रिय ही था। अतः संस्कार रहित जात्या शूद्र को वेदविद्या में अधिकार नहीं है।

चतुर्थपाद में सम्यक् विवेचनपूर्वक ब्रह्म को ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण सिद्धान्ततः स्थिर किया गया है तथा सांख्यमत द्वारा प्रतिपादित जड़ प्रकृति और परमाणु कारणवादी नैयायिक आदि के मतों को अपास्त कर दिया गया।

द्वितीय अध्याय में अन्य मतावलम्बियों ने जो वेद और स्मृतियों आदि में मतभेद

दिखाया है उसका परिहार किया गया है। सर्वप्रथम यदि यह कहा जाय कि चुँकि सांख्य स्मृति में कपिल मुनि ने प्रधान को या प्रकृति को जगत् का कारण माना है और आप परब्रह्म को जगत् का कारण मानने हैं तो दोनों में विरोध उत्पन्न होता है इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं अर्थात् अचेतन स्वतन्त्र प्रधान प्रकृति को जगत् का कारण मान लेने पर अन्य स्मृतियों से ही विरोध हो जाएगा इसलिए वेदानुकूल स्मृतियों को ही प्रमाण मानना उचित है न कि वेद के प्रतिकूल अपनी इच्छा के अनुसार बनायी हुई स्मृति को। दूसरी स्मृतियों में स्पष्ट ही परब्रह्म परमेश्वर को जगत् का कारण बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णु पुराण और मनुस्मृति आदि में समस्त जगत् की उत्पत्ति परमात्मा से ही बतायी गयी है। यदि श्रुति और स्मृति में कहीं विरोध होता भी है तो श्रुति को छोड़कर वेद को ही मान्यता देनी चाहिए क्योंकि दोनों के विरोध में वेद को ही प्रधान माना गया है। प्रधान को जगत् का कारण न मानने में कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्य स्मृतिकारों ने भी इस मत को स्वीकार नहीं किया है। अब प्रश्न यह आता है कि सांख्य के अनुसार योगशास्त्र के प्रवर्तक पतञ्जलि भी सृष्टि प्रक्रिया को प्रधान प्रकृति से ही मानते हैं अतः उनको क्यों नहीं मान्यता दिया जाय। इस पर सूत्रकार कहते है कि 'एतेन योगः प्रत्युक्तः,' अर्थात् सांख्य मत के निराकरण से ही योगमत का भी निराकरण हो गया।

इस पर भी सांख्यमतवादी कहते हैं कि चुँकि वेद प्रमाण से ही परमेश्वर की विलक्षणता सिद्ध होती है अतः कारण से कार्य का विलक्षण होना युक्तिसंगत नहीं है इस लिए चेतन परमात्मा को अचेतन जगत् का उपादन कारण मानना उचित नहीं है और भी श्रुतियों में आकाशादि जड़ तत्वों का चेतनवत् व्यवहार हुआ है जो आप के मतानुसार उनके अभिमानी देवताओं का वर्णन सिद्ध होता है, इस लिए भी ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बताना युक्तिसंगत नहीं है इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि श्रुतियों में उत्पादन से विलक्षण वस्तु की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है जैसे मनुष्यादि चेतन व्यक्तियों से नखलोम आदि जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति का वर्णन वेद में देखा जाता है। अतः ब्रह्म को जगत् का कारण मानना युक्ति संगत तथा श्रुति स्मृतियों से तर्क संगत है।

इसी प्रकार से द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में ही ब्रह्म को जगत् का कारण न

मानने वाले अन्य मतवादियों को भी उत्तर दे दिया है। ब्रह्म कारणावादी के विरुद्ध पूर्व पक्षियों द्वारा यह शंका उठायी गयी कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से उस में भोक्तापन का प्रसङ्ग आ जाएगा और ईश्वर तथा जीव और जड़ वर्ग में विभाजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हैं कि उसमें कोइ बाधा नहीं है क्योंकि लोक में एक कारण से उत्पन्न हुई वस्तुओं में ऐसा विभाजन प्रत्यक्षतः देखा जाता है और कारण होने के कारण भोक्तृत्व का दोष भी नहीं लगेगा जैसे कि गर्भस्थ शिशु पिता का अंशभूत होते हुए भी गर्भजन्य पीणा का भोक्ता शिशु होता है, पिता नहीं उसी प्रकार ब्रह्म में भोक्तापन आने की आशंका नहो है और जीवात्मा और परमात्मा में परस्पर विभाग होने पर भी कोई अड़चन नहीं है। पुनः शंका होती है कि ऐसा मानने पर तो कार्य और कारण में अनन्यता नहीं सिद्ध होती है तो यह उत्तर देते हैं कि आरम्भण शब्द आदि हेतुओं से उसकी कारण से अनन्यता सिद्ध होती ही है। इस प्रकार इस दूसरे विपक्षी के मत का भी इन्होंने खण्डन कर दिया है। इस प्रकार जगत् कारण रुप परब्रम्ह परमात्मा में सभी धर्मों का होना संगत है क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमांन, सर्वधर्मा, सर्वाधार और सब कुछ बनने में समर्थ है। वह सगुण भी है और निर्गुण भी। व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। इस कारण उसे जगत् का कारण मानने में कोई दोष या विरोध नहीं है।

ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के दूसरे पाद में पुनः आचार्य बादरायण ने सांख्य मतवादियों के द्वारा प्रधान प्रकृति कोजगत् का कारण माननेमें जो दोष आते हैं उनका दिगदर्शन कराते हुए उनका खण्डन किया है। सबसे पहला दोष यह है कि प्रकृति को जड़ कहा गया है और जड़ में विवेक नहीं होता. अतः जड़ वस्तु बिना किसी चेतन कर्त्ता की सहायता से स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं इसलिए प्रकृति को जगत् का कारण मानना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति में रचना करने की प्रवृति भी नहीं है। कोई भी जड़ पदार्थ बिना किसी चेतन की सहायता के किसी कार्य में अपने आप प्रवृत्त होता है। ऐसा लोक में कहीं भी नहीं देखा गया है। पुनः कहते हैं कि यदि ऐसा कहे कि जैसे थन में दूध अपने आप उतरता है या नदियों का जल परोपकार के लिए अपने आप बहता है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि उसके पीछे भी अव्यक्त चेतन की प्रेरणा ही काम करती है यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं। प्रकृति प्रधान जगत् का कारण इसलिए भी नहीं

हो सकती कि उसे किसी की अपेक्षा नहीं है और उसमें कोई व्यवस्था भी नहीं है। अब यदि आप कहते हैं कि अन्धे और पंगु के संयोग की भाँति एवं लोहे और चुम्बक के संयोग की भाँति ही प्रकृति में क्रियाशीलता आ जाती है तो भी आप के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होगी क्योंकि यहाँ भी चेतनता है। बिना चेतनता के लोहा चुम्बक के समीप नहीं जाएगा और न उसमें क्रिया उत्पन्न होगी। यदि गुणों की साम्यावस्था को स्वीकार किया जाय तो वह कभी भङ्ग ही न होगी और गुणों में विषमता न होने के कारण अङ्गाङ्गि भाव की सिद्धि नहीं होगी। अब यदि आप गुणों की विषमता को ही स्वाभाविक मानते हैं तब तो सदा सृष्टि चलती रहेगी प्रलय ही नहीं होगा। इस प्रकार इस मत में (सांख्य मत में) अनेकानेक परस्पर विरोधी बातों का वर्णन किया गया है। इसलिए यह ग्राह्य नहीं होता। इस प्रकार सांख्य मत का निवारण करके उन्होंने वैशेषिकों की भी समीक्षा की है और उनका भी खण्डन किया है।

परमाणुवादी वैशेषिकों की मानी हुई प्रक्रिया इस प्रकार है कि एक द्रव्य सजातीय दूसरे द्रव्य को और एक गुण सजातीय दूसरे गुण को उत्पन्न करता है। समवायि, और निमित्त तीनों कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है। परमाणु के चार भेद हैं– पार्थिव परमाणु, जलीय परमाणु तैजस् परमाणु तथा वायवीय परमाणु। ये परमाणु नित्य, निरवयव तथा रुपादि गुणों से युक्त हैं- इनका जो परिमाण है उसे पारमांडल्य कहते हैं। प्रलय काल में ये परमाणु कोई भी कार्य आरम्भ न करके यों ही स्थित रहते हैं। सृष्टिकाल में परमाणु तो समवायि कारण बनते हैं, उनका एक दूसरे से सम्बन्ध असमवायि कारण होता है। अदृष्ट या ईश्वर ईच्छा आदि उसमें निमित्त कारण बनते हैं। उस समय ईश्वर की ईच्छा से पहला कर्म वायवीय परमाणुओं में प्रकट होता है। फिर एक दूसरे का सहयोग होता है। दो परमाणु संयुक्त होकर एक द्वयणुक रूप कार्य को उत्पन्न करते हैं। तीन द्वयणुकों से त्रयणुक उत्पन्न होता है। चार त्रयणुकों से चतुर्णुक की उत्पत्ति होती है। इस क्रम से महान वायु तत्व प्रकट होता है और वह आकाश में वेग से बहने लगता है। इसी प्रकार तैजस परमाणुओं से अग्नि की उत्पत्ति होती है और वह प्रज्वलित होने लगता है। इसी प्रकार संहारकाल में भी परमाणुओं में विनाश कार्य शुरु होता है और पारस्परिक सयोग का नाश होता है।

वैशेषिकों की इस प्रक्रिया का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि वैशेषिकों की मान्यता ही असंगत है क्योंकि दोनों ही प्रकार से जगत का जन्म आदि होना सिद्ध

नहीं होता इसलिए परमाणुओं के संयोग को जगत् की उत्पत्ति का कारण मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता । दूसरी बात यह है कि परमाणुवादी परमाणुओं को नित्य मानते हैं इस लिए परमाणुओं का स्वभाव भी नित्य मान लिया जाएगा तब यदि ऐसा माने कि परमाणुओं का स्वभाव प्रवृत्ति मूलक कर्म है तब तो सदा सृष्टि होती रहेगी, कभी प्रलय होगी ही नहीं । दूसरी बात यह है कि परमाणुओं की नित्यता ही संदिग्ध है। अब परमाणुवाद को अत्यन्त निकृष्ट मानते हुए सूत्रकार अन्त में कहते हैं कि सांख्यवाद का समर्थन तो मधु आदि शिष्टपुरुषों ने उसमें सत्कार्यवाद का निरुपण होने के कारण ग्रहण भी किया है किन्तु वैशेषिकों के मत का समर्थन किसी भी शास्त्र अथवा शिष्ट पुरुष ने नहीं किया है इसलिए भी वह ग्राह्य नहीं है इसी प्रकार बौध, जैन आदि मतावलम्बियों के मतों का भी अपने अविरोधाध्याय में खण्डन करके इन्होंने ब्रह्म कारणवाद और सत् कार्य वाद की स्थापना की है ।

ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय में सृष्टि रचना का क्रम जीव के देहान्तर गमन का कथन, स्वर्ग और नरक आदि का वर्णन किया गया है । साथ ही यह भी स्थापित किया है कि सर्वान्तर्यामी परमात्मा किसी भी स्थान दोष से लिप्त नहीं होता । वह निर्गुण निर्विशेष, सगुण सविशेष दोनों लक्षणों से युक्त है । परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं है । आराधना के द्वारा परब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन संभव होता है और कर्मों का फल देने वाला परमात्मा ही है कर्म नहीं आदि बातों का प्रतिपादन किया गया है। तीसरे पाद में वेदान्त वर्णित समस्त ब्रह्मविद्याओं की एकता को प्रतिपादित किया गया है । भेद प्रतीति का निराकरण करते हुए अप्याहार का निरुपण किया गया है। ब्रह्म विद्या के फल वर्णन में पुरवादिनाश और परम पद की प्राप्ति आदि का विवेचन भी तृतीय पाद में किया गया है । अक्षर ब्रह्म के लक्षण और अन्य उपनिषदों को विद्याओं की एकता, इसमें आनेवाले विरोधों का परिहार, यज्ञाङ्ग सम्बन्धी उपासना का वर्णन भी तृतीय अध्याय के तीसरे पाद में किया है । चतुर्थ पाद में सन्यास और सन्यासी के धर्म का विवेचन है । अनेक उपासनाओं का विधान, विद्या प्राप्ति के लिए वर्णन किया गया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र में सूत्रकार ने ब्रह्मविद्या ही दुःखों के आत्यन्तिक विनाश के लिए एवं लोकोपकार के लिए उपयोगी है, प्रतिपादित किया है अन्य सभी अद्वैत मतवादियों ने इसीका व्याख्यान अपने अपने मत के अनुसार किया है ।

चतुर्थ अध्याय

अध्यारोप और अपवाद के द्वारा अद्वैत सिद्धि

अद्वैत वेदान्त में अद्वैत सिद्धि के लिए अध्यारोप, अपवाद न्याय का आश्रय लिया जाता है। सदानन्द जी ने अपने वेदान्त सार में अध्यारोप का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—असर्पभूतायांरज्जौ सर्पारोपवत् वस्तुनि अवस्त्वारोपो अध्यारोपः वस्तु सच्चिदानन्दऽनन्तअद्वयंब्रह्म अज्ञानादि सकलजडसमूहोऽवस्तु। इसके अनुसार असर्पभूत रस्सी में सर्प के आरोप के समान वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है। अन्धकारावृत्तरज्जु में तत्सदृश सर्प का भ्रम होने लगता है। इस प्रकार के भ्रम में दर्शक का रज्जु विषयक अज्ञान ही सर्पाकार में परिणत हो जाता है और वह भ्रमवश उसे सर्प समझने लगता है और तबतक यह भ्रम बना रहता है जबतक प्रकाश में उसे देख नहीं लेता। प्रकाश से देखने पर रज्जु विषयक अज्ञान दूर हो जाता है और उसे यह निश्चय हो जाता है कि यह वस्तुतः रज्जु है सर्प नहीं, इसी प्रकार स्वतः प्रकाश ब्रह्मरूप वस्तु में ब्रह्मविषयक अज्ञान से अज्ञानजन्य समस्त चराचर जगत्रूप अवस्तु का मान होता है किन्तु तत्व ज्ञान के प्रकाश से ब्रह्मरूपी वस्तु के ज्ञात हो जाने पर जगत्रूपी अवस्तु का भ्रम नष्ट हो जाता है। और प्रमाता को वास्तविक वस्तु ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। अस्तु, इस प्रकार वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। ब्रह्म सूत्र में शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इसे ही अध्यास कहा है।

ब्रह्मरूप वस्तुपर आरोपित अवस्तुरूप अज्ञान दो प्रकार का होता है— समष्टिरूप और व्यष्टिरूप, अजामेकां- इत्यादि श्रुतियों से वह एक सिद्ध होता है किन्तु इन्द्रोमायामिः पुरुरूपईयते आदि श्रुतियों में अनेक रूप भी सिद्ध होता है अर्थात् अज्ञान समष्टि रूप से तो एक है व्यष्टिरूप से अनेक है। जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के बहुत से वृक्षों को सामूहिक रूप से वन कहा जाता है उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रतीत होनेवाले अनेक जीव गत अज्ञानी को सामूहिक या समष्टि रुप से एक अज्ञान कहा जाता है, इसी अनभिभूत समष्टिभूत अज्ञान में सत्वगुण की प्रधानता होती है और इस सत्य प्रधान समष्टिभूत अज्ञान से उपहित चैतन्य सर्वज्ञ सर्वेश्वर; सर्वान्तर्यामी तथा ईश्वर कहा जाता है। यतः यह सर्वज्ञ अर्थात् सामान्यतः सब कुछ जानता हुआ विशेषतः भी सब कुछ जानने वाला

है। इसीलिए उसे सर्वविद् भी कहा जाता है। जैसा कि श्रुति भीं कहती है यः सर्वज्ञ सर्वविद् यह ईश्वर ही चराचर प्रपञ्च का साक्षी और सब जीवों को कर्मानुरुप फल देने वाला है। ईश्वर की यह अज्ञान समष्टिरुप उपाधि सब प्रपञ्च का कारण है अत एव इसे कारण शरीर भी कहा जाता है। यह समष्टि भूत अज्ञान को कोषवत् ढंक लेता है और इसमें आनन्द का प्राचूर्य रहता है इसलिए इसे आनन्दमय कोष भी कहा जाता है। यह स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् प्रपञ्च के लय का स्थान भी है इसीलिए इसे सुषुप्ति भी कहा जाता है।

जिस प्रकार भिन्न भिन्न वहुत से वृक्षों को सामूहिक या समष्टि अथवा समुदाय रुप में वन कहे जाने पर भी उस वन के घटक विभिन्न वृक्षों का एक एक वृक्ष के रुप में पृथक ज्ञान कराते समय उन्हें अनेक रुप में देखा और कहा जाता है इसी प्रकार समस्त प्रपञ्च के कारणभूत अज्ञान में समष्टि रुप से तो एकत्व का व्यवहार होता है किन्तु जब एक एक जीव के अज्ञान को पृथक् देखा जाता है तथा उनमें अनेकत्व का व्यवहार होता है। यह अनेकत्व व्यवहार ही अज्ञान का व्यष्टि रुप है। अज्ञान व्यष्टिरुप उपाधि निकृष्टि रूप उपाधि है। इसमें रजस् एवं तमस् से अभिभूत मलीन सत्व गुण का प्रधान रहता है। व्यष्टि रूपाज्ञानोपहित ब्रह्म या चैतन्य को अल्पज्ञ, अनीश्वर और प्राज्ञ संज्ञा दी गयी है क्योंकि यह अज्ञान के एक अंश का ही अवभासक होता है।

अपवादः—ब्रह्म, जीव और माया एवं सृष्टि प्रपञ्च के कारणों का निरूपण करने के उपरान्त ब्रह्मप्राप्ति के लिए उपायस्वरूप अपवाद, शक्ति या प्रक्रिया का सदानन्द जी ने निरूपण किया है इनके ही शब्दों में –

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्त्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम् तदुक्तम् :—

सतत्वोऽन्यया प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तथा– स्तद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपन्नापानादिकमेतदायतनभूतं भूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादि विषय सहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरुपांपञ्चीकृत भूतमात्रं भवति। एतानि सत्वादिगुणसहिता

चतुर्थ अध्याय

अध्यारोप और अपवाद के द्वारा अद्वैत सिद्धि

अद्वैत वेदान्त में अद्वैत सिद्धि के लिए अध्यारोप, अपवाद न्याय का आश्रय लिया जाता है। सदानन्द जी ने अपने वेदान्त सार में अध्यारोप का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—असर्पभूतायांरज्जौ सर्पारोपवत् वस्तुनि अवस्त्वारोपो अध्यारोपः वस्तु सच्चिदानन्दऽनन्तअद्वयंब्रह्म अज्ञानादि सकलजडसमूहोऽवस्तु। इसके अनुसार असर्पभूता रस्सी में सर्प के आरोप के समान वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है। अन्धकारावृत्तरज्जु में तत्सदृश सर्प का भ्रम होने लगता है। इस प्रकार के भ्रम में दर्शक का रज्जु विषयक अज्ञान ही सर्पाकार में परिणत हो जाता है और वह भ्रमवश उसे सर्प समझने लगता है और तबतक यह भ्रम बना रहता है जबतक प्रकाश में उसे देख नहीं लेता। प्रकाश से देखने पर रज्जु विषयक अज्ञान दूर हो जाता है और उसे यह निश्चय हो जाता है कि यह वस्तुतः रज्जु है सर्प नहीं, इसी प्रकार स्वतः प्रकाश ब्रह्मरूप वस्तु में ब्रह्मविषयक अज्ञान से अज्ञानजन्य समस्त चराचर जगत्‌रूप अवस्तु का मान होता है किन्तु तत्व ज्ञान के प्रकाश से ब्रह्मरूपी वस्तु के ज्ञात हो जाने पर जगत्‌रूपी अवस्तु का भ्रम नष्ट हो जाता है। और प्रमाता को वास्तविक वस्तु ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। अस्तु, इस प्रकार-वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। ब्रह्म सूत्र में शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इसे ही अध्यास कहा है।

ब्रह्मरूप वस्तुपर आरोपित अवस्तुरूप अज्ञान दो प्रकार का होता है— समष्टिरूप और व्यष्टिरूप, अजामेकां- इत्यादि श्रुतियों से वह एक सिद्ध होता है किन्तु इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईयते आदि श्रुतियों में अनेक रूप भी सिद्ध होता है अर्थात् अज्ञान समष्टि रूप से तो एक है व्यष्टिरूप से अनेक है। जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के बहुत से वृक्षों को सामूहिक रूप से वन कहा जाता है उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रतीत होनेवाले अनेक जीव गत अज्ञानों को सामूहिक या समष्टि रुप से एक अज्ञान कहा जाता है, इसी अनभिभूत समष्टिभूत अज्ञान में सत्वगुण की प्रधानता होती है और इस सत्य प्रधान समष्टिभूत अज्ञान से उपहित चैतन्य सर्वज्ञ सर्वेश्वर; सर्वान्तर्यामी तथा ईश्वर कहा जाता है। यतः यह सर्वज्ञ अर्थात् सामान्यतः सब कुछ जानता हुआ विशेषतः भी सब कुछ जाननेवाला

है। इसीलिए उसे सर्वविद् भी कहा जाता है। जैसा कि श्रुति भी कहती है यः सर्वज्ञ सर्वविद् यह ईश्वर ही चराचर प्रपञ्च का साक्षी और सब जीवों को कर्मानुरुप फल देने वाला है। ईश्वर की यह अज्ञान समष्टिरुप उपाधि सब प्रपञ्च का कारण है अत एव इसे कारण शरीर भी कहा जाता है। यह समष्टि भूत अज्ञान को कोषवत् ढंक लेता है और इसमें आनन्द का प्राचूर्य रहता है इसलिए इसे आनन्दमय कोष भी कहा जाता है। यह स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् प्रपञ्च के लय का स्थान भी है इसीलिए इसे सुषुप्ति भी कहा जाता है।

जिस प्रकार भिन्न भिन्न वहुत से वृक्षों को सामूहिक या समष्टि अथवा समुदाय रुप में वन कहे जाने पर भी उस वन के घटक विभिन्न वृक्षों का एक एक वृक्ष के रुप में पृथक ज्ञान कराते समय उन्हें अनेक रुप में देखा और कहा जाता है इसी प्रकार समस्त प्रपञ्च के कारणभूत अज्ञान में समष्टि रुप से तो एकत्व का व्यवहार होता है किन्तु जब एक एक जीव के अज्ञान को पृथक् देखा जाता है तथा उनमें अनेकत्व का व्यवहार होता है। यह अनेकत्व व्यवहार ही अज्ञान का व्यष्टि रुप है। अज्ञान व्यष्टिरुप उपाधि निकृष्टि रूप उपाधि है। इसमें रजस् एवं तमस् से अभिभूत मलीन सत्व गुण का प्रधान रहता है। व्यष्टि रूपाज्ञानोपहित ब्रह्म या चैतन्य को अल्पज्ञ, अनीश्वर और प्राज्ञ संज्ञा दी गयी है क्योंकि यह अज्ञान के एक अंश का ही अवभासक होता है।

अपवाद:—ब्रह्म, जीव और माया एवं सृष्टि प्रपञ्च के कारणों का निरूपण करने के उपरान्त ब्रह्मप्राप्ति के लिए उपायस्वरूप अपवाद, शक्ति या प्रक्रिया का सदानन्द जी ने निरूपण किया है इनके ही शब्दों में –

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम् तदुक्तम् :—

सतत्वोऽन्यया प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तथा– स्तद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपन्नापानादिकभेतदाय तनभूत भूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैततत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादि विषय सहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरुपांपञ्चीकृत भूतमात्रं भवति। एतानि सत्वादिगुणसहिता

न्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूतज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञनोपहितं चैतन्यञ्चेश्वरादिक मेतदाधारभूतानुपहित चैतन्यरुपं ब्रह्ममात्रं भवति।

अर्थात् किसी सत्य वस्तु में भ्रमवश जो असत्य वस्तु का अध्यारोप कर लिया जोता है इस भ्रम को हठाकर सत्य वस्तुमात्र का स्थापना करना ही अपवाद कहलाता है जैसे रज्जुविवर्त सर्प को अवसारण कर रज्जुमात्र ज्ञान करने का अपवाद है इसी प्रकार ब्रह्मरूपी सत्य वस्तु में अज्ञानादि प्रपञ्च की जो मिथ्या प्रतीति होती हैं उसे दूर कर के ब्रह्मरूप सत्य वस्तु का भान करना ही अपवाद है।

अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि मिथ्या प्रतीति से क्या समझा जाय। उत्तर देते हैं कि यह मिथ्या प्रतीति दो प्रकार की होती है एक तो परिणाम भाव कहलाती है दूसरा विवर्त भाव जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर किसी दूसरे रूप को धारण कर लेती है तो उसे परिणामभाव या विकारभाव कहते हैं। जैसे— दूध अपने स्वरूप को छोड़कर दही का रूप लेता है। यह अन्यथा भाव परिणाम भाव या विकारभाव कहलाता है, किन्तु जहाँ वस्तु अपने मूलरूप में विद्यमान हो और उसे अन्यथा समझा जाय तो इसे विवर्त्त कहते हैं जैसे रस्सी अपना स्वरुप बदले बिना ही सर्वं प्रतीत होने लगती है तो यह मिथ्या प्रतीति विवर्त कहलाती है। यह ससारिक प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त ही है परिणाम नहीं क्योंकि यदि उस प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम मानेगे तो ब्रह्म की नित्यता आदि में ही दोष आ जाएगा किन्तु विवर्त्त मानने में यह दोष नहीं आयेगा। तभी ब्रह्मरुप सत्य वस्तु में से प्रपञ्च की मिथ्या प्रतीति को हटाकर ब्रह्ममात्र सत्य का ज्ञान हो सकता है और यही अपवाद है। जब इस बात का भलिभांति ज्ञान हो जाता है कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च अपने अपने कारणों में किस प्रकार लीन होजाता है वह मिथ्या प्रतीति नष्ट हो जाती है और अन्त में ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाती है। इसी लय प्रकार को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया गया है कि दुःख सुखादि भोगों के भोगनेवाले चारों प्रकार के सब स्थूल शरीर इनके भोज्यरुप सब अन्नपानादि तथा उनके आश्रयभूत चतुर्दश लोकों सहित तोनों भुवन और उनका आधारभूत ब्रह्मांड ये सब अपने अपने कारण रुप पञ्चीकृत महाभूतों में लीन हो जाते हैं तत्पश्चात् शब्दादिकों के समेत सब पञ्चीकृत तथा सप्तदश अवयव, सभी सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत महाभूतों में लीन हो जाते हैं। इसके बाद सत्वादिगुणों के साथ वे सब अपञ्चीकृत महाभूत अपने

कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्य में विलीन हो जाते हैं और केवल तन्मात्र होकर अवशिष्ट रह जाते हैं। यह अज्ञान तथा अज्ञानोपहित सर्वज्ञत्वादि गुण विशिष्ट चैतन्य ईश्वरादि अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्यरुप तुरीय ब्रह्म में लीन हो जाता है।

महाभारत शान्ति पर्व में उत्पत्तिव्युत्क्रम से पृथिव्यादि का परब्रह्म में लय निम्न प्रकार से वर्णित है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे, पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मनिष्कले सम्प्रलीयते ॥

(म० भा० श० प०–१२९-९३-९५)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है आचार्य शंकर ने इसी अध्यारोप को अध्यास कहा है प्रसंगवश आचार्य शंकर के अध्यास के स्वरुप को समझ लेना भी आवश्यक है। सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म की व्याख्या की गयी है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न मानते हुए बृहदारण्यक उपनिषद के, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'' इस वाक्य की सिद्धि को ब्रह्मसूत्र का जिज्ञास्य विषय माना है। यहाँ पर यह संदेह होता है कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए या नहीं। पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि पहले तो 'अहं'' 'ब्रह्मास्मि' पद मे 'अहं' पद से आत्मा का बोध होता है। अहं का अनुभव सार्वजनिक रुप से प्रसिद्ध है, अतः यहाँ संदेह नहीं होता इस लिए यह जिज्ञासा का विषय नहीं बनता। पूर्वपक्षियों के अनुसार आत्मा और जीव दोनों भिन्न भिन्न नहीं हैं। यदि दोनो भिन्न भिन्न नहीं होते तो चक्षु आदि का भी अहं की प्रतिति होने लगेगी। दूसरा पक्ष कहता है कि दोनों में अभेद मानकर ही चलना पड़गा। अगर अभेद नहीं मानेगे तो स्थलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहं गौरोऽहं आदि का सम्यक् ज्ञान कैसे हो सकता है ? इन प्रकार के वाद विवाद के बाद शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा और जीव में भेद है, यह भेद विषय और विषयी के रुप में है। एक विषय है और दूसरा विषयी। इन दोनों में तम और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने के कारण इतरेतरभावानुपपत्ति सिद्ध हो जाने पर उनके धर्मों में भी अत्यन्त इतरेतर भावानुपपत्ति सिद्ध होने लगेगी। इसीलिए अह पद से ज्ञान का विषय है और विषयी चेतनात्मक वस्तु मे तुम आदि ज्ञान के विषय

अनात्मा और उनके धर्मों का अध्यास होना मिथ्या है। अर्थात् आत्मा में अनात्मा का अध्यास नहीं हो सकता। इसके उलटा अन्तः करणादि विषय में विषयी चिदात्मा और उसके धर्मों का अध्यास मानना युक्त होता है और इसलिए ब्रह्म विषयक जिज्ञासा भी व्यर्थ ही है। उत्तर में कहते हैं कि आपकी शंका ठीक है और विषय और विषयी में भेद होने के कारण यह अध्यास भी मिथ्या ही है फिर भी एक दूसरे में एक दूसरे के धर्मों को अध्यास करके ही अत्यन्त भिन्न धर्मों और धर्मियों का ज्ञान न होने के कारण सत्य और अनृत मिथुनिकरण करके अहमिदं ममेदं का लोक व्यापार चलता ही है। इस से यह अध्यास सिद्ध ही होता है। इस विषय में आचार्य शंकर का मूल कथन इस प्रकार है।

"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमः प्रकाशवद्विरुद्ध स्वभावयोरितरेतर-भावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य बिषयस्य तद्धर्माणौ चाध्यासः तद्विपर्ययेण विषयिणंस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्ः तथापि अन्योऽन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्माश्च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोधर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदम्' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

आह–कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते–स्मृतिरुपः परत्र पूर्वं दृष्टावभासः।

तं केचित्–अन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु-यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रह-निबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु-यत्रयदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनाम् चक्षते इति। सर्वथापि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः शुक्तिका ही रजतवदवभासते। एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदति।

(ब्रह्मसूत्रः शंकरभास्य की भूमिका अध्यास भासांश)

स्वामी अखन्डानन्द सरस्वती ने अपने शारीरकं भाष्य के उपर प्रवचन में शंकराचार्य के भाष्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि अध्यास का अर्थ है–अधि= उपरि, अन्यस्य उपरि अन्यस्य," आस =निक्षेपः अध्यासः अर्थात् किसी अन्य के उपर अन्य का निक्षेप हीं अध्यास है जैसे गर्मी अग्नि का धर्म है उसे हम वायु पर आरोपित करके वायु को गर्म बताते हैं इसी प्रकार पृथ्वी आदि के धर्म को भी वायु पर आरोपित

कर के उसे सुगन्धित एवं शीतल बताते हैं। कुछ लोग इस अध्यास को और अज्ञान को एक ही मानते हैं किन्तु यह दोनों भिन्न 'हैं क्योंकि अध्यास कार्य है और अज्ञान उसका कारण। कहीं कहीं अध्यास और अविधा को एक भी कहा गया है। जैसा कि मूल में ही शंकराचार्य ने कहा है कि- तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते।

अध्यास के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि आत्मा अहं गोचर प्रत्यय है और अनात्मा इदं अथवा युष्मद प्रत्यय गोचर है। आत्मा अन्तः-करण की उपाधि से इदंगम्य बिषय का प्रकाशन करता है इसलिए वह विषयी कहलाता है। यद्यपि विषय और बिषयी अन्धकार और प्रकाश की भाँति परस्पर विरुद्ध धर्मी हैं फिर भी दोनों में अविवेक से अयुक्त स्थानीय अध्यास सम्भव हो जाता है। विषय को विषयी और विषयी को विषय समझना अथवा विषय के धर्मों का विषयी में और विषयी के धर्मों का विषय में अध्यास उत्पन्न हो जाता है। इस अध्यास का निमित्त अज्ञान कहो अथवा मिथ्याज्ञान उसमें सत्य का मिथ्या के साथ मिथुनीकरण होकर यह मैं हूँ और यह मेरा है यह दो प्रकार का लोक में व्यवहार स्वाभाविक रुप से चलता है। दोनों ही व्यवहार अध्यास रुप है। यह मैं हूँ अर्थाध्यास है और यह मेरा है इसे संसर्गाध्याग कहा जाता है। प्रथम अध्यास में आत्मा और शरीर के धर्मों का अध्यारोप है। द्रष्टा दृश्य तथा अधिष्ठान अध्यस्त का अविवेक ही अर्थाध्यास का मूल निमित्त है। संसर्गाध्यास में यह पद शरीर या अन्य सभी पदार्थों का वाचक है यह अध्यास विपय का विषयी के साथ सम्बन्धरुप है। इसमें विषय और विषयी की पृथक् सत्य सत्ता का मूल निमित्त मिथ्या ज्ञान है।

बौद्ध मतवाले भी इस अध्यास को स्वीकार करते हैं वे भी अहं और इदं दो प्रत्ययों को मानकर अपना दो विज्ञान स्थापित किए हैं। अहं प्रत्ययबोध को प्रवृत्ति विज्ञान और इदं को आलय विज्ञान कहा है। ये दोनों विज्ञान अलग अलग हैं जो क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। व्यवहार इन दोनों विज्ञानों के क्षणिक तथा क्षण-क्षण नवीन अध्यासों के कारण होता है और व्यवहार में जो सादृश्यमूलक एकत्व अनुभूत होता है। वह इन विज्ञानों के परस्पर घात प्रतिघात तथा आरोपण प्रत्यारोपण के कारण हैं। अन्यथा प्रत्येक प्रत्यय नितान्त एकाकी और क्षणिक होता है। अध्यास प्रत्येक क्षण उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। व्यवहार में जो कल और आजकी सादृश्यता अनु त

होती है वह प्रत्ययरुप तरंगों के सादृश्य से है। इनके मत में प्रवृत्ति और आलँय दोनों ही विज्ञान मिथ्या है क्योंकि दोनों का आधार शून्य है। उनके अनुसार जो अध्यास होता है वह मिथ्या के साथ मिथुनीकरण है। शून्य की एकरस चैतन्यता और अघिष्ठान को स्वीकार किए बिना ही बौद्ध लोग झूठ और झुठका मिथुनी करण का अध्यास स्वीकार करते हैं। इस प्रकार बौद्ध मत में अध्यास का रुप है- अनृतानृते मिथुनीकरण।

परन्तु अद्वैत वेदान्त का कहना है कि अहं और इदं प्रत्यय को भले ही मिथ्या मान लिया जाय पर इनका अधिष्ठान एकरस चैतन्य है। साथ ही अहँ और इदं का अध्यास झूठ नहीं अपितु सत्य और झूठ का अध्यास अथवा अधिष्ठान् और अध्यस्त इदं का अध्यास है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में अध्यास की परिभाषा इस प्रकार दी है- स्मृतिरुपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः अध्यासः अर्थात् जो ज्ञान स्मृति के समान संस्कार जन्य होने से स्मृतिरुप असमीपवर्ती वस्तु विषयक हो, उस ज्ञान का विषय वहाँ सत्य नहीं हो, इसी से जो अन्य वस्तु शुक्ति आदि में अन्य रजतादि का अवभास मिथ्या ज्ञान हो उसे अध्यास कहते हैं। सो परत्र अन्यत्र शुक्ति में पूर्व दृष्ट रजत का अवभास अध्यास रुप है। अवभास वह है जो किसी अधिष्ठान में ऐसी चीज का भास कराये जो बाद में मिथ्या सिद्ध हो जाय। वस्तु का केवल भासना ही उसके सत्यत्व का प्रमाण नहीं होता। रज्जु में सर्प का भास होता है, शुक्ति में रजत का भास होता है और नेत्र पर अंगुली रखने से चन्द्रमा में द्वित्व का भास भी होता है। परन्तु भ्रम के अधिष्ठान के यथार्थ बोध से सब भास मिथ्या अनुभव हो जाते हैं क्यों कि उनका भास नहीं होता है। अत: जब कोई वस्तु प्रकाशित होती है और उस अधिष्ठान में प्रकाशित होती हो जिसमें यह नहीं हैं तथा भासकाल अवभास के पश्चात् उसका अधिष्ठान बोध से मिथ्यात्व रुप सिद्ध हो जाता हो तब वह भास परत्र अवभास रुप अध्यास कहलाता है।

बौद्ध मतवादियों के अनुसार अध्यास के स्वरुप और अनेक विचारों को ऊपर दर्शाया जा चुका है। अत्र यहाँ पर अन्य मतवादियों के विचारों को भी जान लेना आवश्यक है क्योंकि आचार्य शंकर ने इनका उल्लेख भी अपने भाष्य में केचित् पद से किया है। सांख्यवादी स्पष्ट रुप से अध्यास का नाम नहीं लेते किन्तु अध्यास को स्वीकार वे भी करते हैं। जब वे जड़ चेतन के अविवेक की चर्चा करते हैं तो वे मानो

इतरेतरा विवेकेन की ही पुष्टि करते हैं। सांख्यवादियों के अनुसार जड़ और चेतन दोनों ही सत्य हैं तथा अविवेक से ही चेतन अपने को जड़धर्मी और जड़ को चेतनधर्मी मान बैठता है। अतः इनके मत में सत्य का ही सत्य के साथ अध्यास होता है। परन्तु यह मत भी मान्य नहीं होता अर्थात् सत्य का सत्य से अध्यास सम्भव नहीं है क्योंकि आनन्त्य दोष आ जाता है अतः सत्य का अनृत के साथ अध्यास ही मानना पड़ेगा। आरम्भवादी और परिणामवादी दोनों मत भी ठीक नहीं प्रतीत होते। कारण यह है कि अधिष्ठान को कारण कहा जाता हैं और अध्यस्त को कार्य। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि दोनों में सम्बन्ध क्या है ? कारण से कार्य में आरम्भ है या परिणाम अथवा विवर्त्त। आरम्भवाद में कार्य की कारण में बीजरुप से प्राक्सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है तब कार्य कारण में ही निहित होगा और उसकी स्वतंत्र सत्ता मानने का कोई प्रयोजन ही नहीं। परिणामवाद में कारण का परिवर्तन शील होना अनिवार्य है। साथ ही सत्ता द्वय के अवधित्व के लिए कारण का एक अंश अपरिवर्तन शील भी रहना आवश्यक है। एक ही सत्ता समकाल में परिवर्तन शील और अपरिवर्तन शील दोनों नहीं रह सकती। अतः सत्य में परिणामवाद अयुक्त है।

इस प्रकार अध्यास के स्वरुप निरुपण करने के पश्चाद् अध्यास के भेदों पर भी पर्याप्त विचार एवं भेद आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किए गये हैं। माध्वाचार्य अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में अध्यास के भेद करते हुए लिखते हैं कि सच अध्यासो द्विविधः अर्थाध्यासो, ज्ञानाध्यासश्चेति। अर्थात् यह अध्यास दो प्रकार का है- अर्थाध्यास ओर ज्ञानाध्यास। सीपी पर मिथ्या रजत् का अध्यास होना अर्थाध्यास हैं। यह वही भ्रम है जिसमें मिथ्या का आधार कोई पदार्थ रहता है। एक अर्थ या वस्तु का दूसरे पर आरोप होना अर्थाध्यास हैं। जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तो इसे ज्ञानाध्यास कहते हैं। मिथ्याख्याति तीन प्रकार से होती है- प्रमाण, दोष और संस्कार। पुनः अध्यास को एक अन्य वर्गीकरण में बांटते हुए दो प्रकार का बतलाया गया है- निरुपाधिक और सोपाधिक। दोष या कर्म से संचालित अविद्या से जो अज्ञान उत्पन्न होता है तथा तत्वज्ञान का विरोधी होता है वह निरुपाधिक आत्मा पर अहंकार का अध्यास करने वाला है। 'इदं रजतम्' वाक्य में इदं का अंश उपहित नहीं हुआ है। उसपर रजत् के संस्कार के साथ अविद्या के द्वारा रजत् का अध्यास होता है। उसी प्रकार

अविद्या के द्वारा ही अनुपहित चित् रुपी आत्मा पर अहंकार का अध्यास होता है। उपाधि के सामिप्य से जब अविद्या में क्षोभ या संचालन क्रिया उत्पन्न होता है तब उस अविद्या से ही उत्पन्न भ्रम को सोंपाधिक कहते हैं जो उपाधि के विनाश से स्वयं भी नष्ट हो जाता है। जब एकात्मक ब्रह्म पर उसके उपहित हो जाने पर जीव और ईश्वर के रुप में भेद की प्रतीति हो तो उसे सोपाधिक भ्रम कहते हैं।

स्वरुप से कल्पित अहम् आदि का आत्मा पर अध्यास होना निरुपाधिक अध्यास है। जिस प्रक'र आकाश में निलापन काभ्रम है उसी तरह यह संसार भी ब्रह्म में प्रतिभासित होता है। अर्थात् जिस प्रकार आकाश सत्य है और नीलिमा भ्रम वैसे ही ब्रह्म सत्य है। प्रपञ्च भ्रम सोपाधिक कां उदाहरण घटाकाश है। जिस प्रकार आकाश से घट को भिन्न समझने की भ्रांति हो जाती है उसी प्रकार यह भोक्ता जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझकर भ्रान्त होता है। इसीलिए शंकराचार्य ने दोनों प्रकार के उदाहरणों को अपने भाष्य में शुक्तिका हि रजद्वतवभासते। एकश्चन्द्रः स द्वितीयवत् इति ऐसा कहकर प्रतिपादित किया है।

परन्तु मीमांसक लोग विशेष रुप से प्रभाकरमतावलम्वी इस अध्यास को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि—

शुक्तिका रजतवदवभासत इति दृटान्तो नेष्टः। रजतप्रत्ययस्य शुक्तिकालम्वनत्वानुपपत्तेः। तथा हि– इदं रजतमिति प्रतीतौ शुक्तेरालम्वनत्वं पुरोदेशसत्तामात्रेणावलम्ब्यते, कारणत्वेन, भासमानत्वेनवा ? नाद्यः। पुरोवर्तिनां लोष्टादीनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्गात्।

अर्थात् आचार्य शंकर द्वारा सीपी में रजत का अध्यास मानना ठीक नहीं क्योंकि रजत का ज्ञान सीपी के विषय में हो जाये ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता। जो विषय है उसी का ज्ञान होगा दूसरे का नहीं। इस विषय में तीन प्रश्न सामने आते हैं। वे इस प्रकार कि सीपी में चांदी की प्रतीति क्या इसलिए होती है कि उसकी सत्ता सामने है? अथवा वह सीपी के कारण के रुप में है? अथवा वह केवल प्रतीति होती है ?

यदि प्रथम विकल्प यह माना जाय कि सीपी की सत्ता ही सामने है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि तव तो पत्थर आदि को भी विषय या आलम्बन माना जा सकता है। सामने केवल सीपी ही नहीं है. पत्थर, मिट्टी आदि सारे पदार्थ सामने पड़े हैं तो फिर

उनमें क्यों नहीं रजत का आभास मानते हैं। इससे पता लगता है कि विषय के रुप में सीपी और प्रतीति के रुप में रजत दोनों असम्भव हैं। यहाँ पर प्रभाकर का रजत प्रतीति के विषय में यह कहना है कि सीपी में इदं रजतं का ज्ञान है। इसमें दो प्रकार का ज्ञान है– इदं प्रत्यक्ष ज्ञान है और रजतं स्मरणात्मज्ञानक है जो पहले से देखे गये रजत के संस्कार के उद्‌बोध के कारण होता है। इदं के द्वारा सामने वर्तमान द्रव्य मात्र का बोध होता है। दोष के कारण उसमें उपस्थित सीपी का ग्रहण नहीं होता। द्रव्य मात्र का ग्रहण हो जाने पर रजत के सादृश्य के कारण इसके संस्कार का उद्‌बोध कर के वह द्रव्य रजत के स्मृति को उत्पन्न कर देता है। यह स्मृति ग्रहण का स्वभाव लिए हुए रहती है। दोष के कारण केवल ग्रहण में ही अवस्थित रहती है। इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक तथा स्मरत्णाक दोनों ज्ञानों में विषय या स्वरुप की दृष्टि से भेद ग्रहण न कर सकने के कारण ये दोनों ज्ञान वास्तव में भिन्न होते हुए भी इदं रजतं वाक्य में अभेद का व्यवहार चलाते हैं और वहाँ सीपी में चांदी की प्रतीति होती है। चांदी का इच्छुक व्यक्ति वहां इसलिय प्रवृत्त होता है कि यह चांदी नहीं है इस भेद का ज्ञान उसे नहीं है।

अब दूसरे विकल्प चांदी का बोध कराने वाले संस्कार के जाग जाने के कारण स्वरुप उसके द्वारा ही रजत के ज्ञान का कारण होने से सीपी को विषय मानना भी उचित नहीं है क्योंकि रजत के जान के कारण तो चक्षु आदि भी हो सकते हैं तो क्या उन्हे भी विषय मान लिया जाय ? रजत का स्मरणात्मक ज्ञान उसके संस्कार के उद्‌बोध से उत्पन्न होता है। सीपी उस संस्कार को जगाती है इसलिए रजत ज्ञान का कारण सीपी है। यदि ऐसा कहा जाय तो रजत ज्ञान के विषयों का एक लम्बा सिलसिला खड़ा हो जायगा। नेत्रादि भी रजत के ज्ञान के कारण बन जाऐंगे और वे भी विषय कहलायेंगे।

सीपी में रजत की प्रतिति होती है, इसलिए सीपी को विषय मानना भी उचित नहीं है। चांदी की प्रतीति सीपी पर निर्भर करे यह संभव नहीं है क्योंकि जिसके ज्ञान में जो प्रतीत होता है वही उसका विषय होता है। यहाँ पर यदि सीपी को विषय मानकर चांदी का ज्ञान करें तो यह नियम विरुद्ध होगा। सीपी को विषय मानने पर सीपी का ही अनुभव होगा चांदी का नहीं। यहाँ पर प्रकरण पञ्चिका में शालिकनाथ

ने इस प्रकार कहा है—

अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते ।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यत्वलक्षणम् ।।
इदं रजतमित्यत्र रजतं त्ववभासते ।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ।।
तेनान्यस्यान्यथा भासः प्रतीत्यैव पराहतः ।
अन्यास्मिन्भासमाने हि न परं भासते यतः ।।

प्रभाकर मत में मिथ्याज्ञान के लिए जो कारण शंकराचार्य द्वारा बताये गये है उस कारण सामग्री का समावेश मिथ्या ज्ञानोत्पत्ति में नहीं होता । उनका कहना है कि आप कारण सामग्री किसे मानते हैं ? केवल इन्द्रियादिकों को अथवा दोषों से दूषित इन्द्रियादिकों को । यदि रजत के मिथ्याज्ञान में केवल इन्द्रियाँ ही कारण हैं ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों में सम्यक ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य देखी जाती है । यदि ऐसा नहीं होता तो चाँदी का सम्यक ज्ञान कभी उत्पन्न ही नहीं होता। यदि दोष युक्त इन्द्रियों को कारण मानते हैं तो भी उचित नहीं क्योंकि दोषोत्पादक की स्वाभाविक शक्ति का ही प्रतिबन्ध मात्र कर सकते हैं। उसमें किसी अपूर्व शक्ति का उत्पादन नहीं कर सकते । खराब दोषयुक्त केवडे का बीज बरगद का अंकुर नहीं उगा सकता अथवा तेल से भींगा हुआ धान का बीज धान से भिन्न किसी अन्य अन्न या पौधे का अंकुर उत्पादन करने में समर्थ नहीं हैं दूसरे के अंकुर का उत्पादन तो दूर रहा वह अपना कार्य भी नहीं कर सकता । परिणाम यह हुआ कि दोषयुक्त होने से भी इन्द्रियाँ मिथ्याज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकतीं । दोषों के रहने से ज्ञानोत्पादन का कार्य बन्द हो सकता है । ऐसा नहीं है कि एक ज्ञान को छिपाकर दूसरा मिथ्याज्ञान दोष में उत्पन्न हो जाय ।

यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि दावाग्नि से जले हुए बेंत के बीज में से केले के अंकुर का धड़ उत्पन्न होते देखे जाते हैं ऐसा कैसे सम्भव है ? यह शंका भी उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि केले का धड़ उत्पन्न करने में जला हुआ बेंत का बीज कारण नहीं कोई अन्य कारण होता है । जल जाने के कारण बेंत का बीज स्वतः नष्ट हो जाता है अतः उसमें बेंत उत्पादन करने की भी सामर्थ्य नहीं रह जाती । फिर विपरीत कार्य

उत्पन्न करने की शक्ति कहाँ से आयेगी ? दोषों के कारण विपरीत कार्य जैसे सीपी में रजत का ज्ञान उत्पन्न करने जैसा कार्य उत्पन्न होने का उदाहरण तभी संभव होगा जब जले हूए बेंत के बीच में बेंत को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहती और वह बेंत उत्पन्न न करके केले का धड़ उत्पन्न करता ।

अध्यास को मानने में एक आपत्ति यह भी है कि असत् अर्थ में भी ज्ञान का प्रादुर्भाव होने से सत् अर्थ में ज्ञान होने पर भी असत् की प्रतीति होने लगेगी और वहाँ भी अध्यास का व्यभिचार होने लगेगा । परिणामतया निरंकुश व्यवहार का बिल्कुल अभाव हो जाएगा अर्थात् सीपी में चांदी के न रहने पर भी चांदी का ज्ञान मानेंगे तो जहाँ ठीक चांदी का ज्ञान होता है उस स्थल में भी ज्ञान की उत्पत्ति होने लगेगी । अभिप्रयाय यह है कि चांदी बेचनेवाले पारमार्थिक ब्यक्ति भी ऐसी दशा में चांदी दिखा कर कहे कि यह चांदी है तो लोगों को शंका हो सकती है कि कहीं यह भी अध्यास न हो । फलतः चांदी का निश्चय न हो सकने से उसकी ओर लोगों की प्रवृत्ति ही न होगी। सारा ज्ञान शंकायुक्त हो जाने के कारण सभी लौकिक व्ययहारों को बन्द कर देगा किन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता । वहां सभी व्यवहार निश्चित ज्ञान के बाद ही होते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि अविद्यमान रजत प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है वह वस्तुतः स्मरणज्ञान है अतः इदं रजतं में प्रत्यक्ष ओर स्मरण दोनों प्रकार का ज्ञान होता है ।

यहाँ पर पुनः शंका यह की जाती है कि अविष प्रत्यगात्मा में विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा जबकि सबलोग इन्द्रिय प्रत्यक्ष विषय में ही विषयान्तर का अध्यास करते हैं और आप युष्मद् प्रतीति से रहित प्रत्यगात्मा को विषय कहते हैं। ऐसा करने पर अर्थात् आत्मा अध्यास की सिद्धि के लिए किसी ज्ञान का विषय शुक्ति आदि के समान मानें तो स्वसिद्धान्त का ही त्याग होगा और यदि आत्मा को विषय भी कहें ती उसको जाननेवाला अन्य ही चिदात्मा सिद्ध होगा और स्वयं प्रकाशरुप अत्यन्त प्रकाशित में भी अध्यास नहीं हो सकता इससे आत्मा में अनात्मा का अध्यास कहना अनुचित है ।

इसका उत्तर देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा एकान्त अविषय ही नहीं है। यह आत्मा थोड़ा ज्ञात है और थोड़ा अज्ञात है । अतः एकान्त रुप से इसे अविषय कह

देना उचित नहीं। स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि आत्मा अविषय है तथापि अविद्या कल्पि अहंकारादि के अध्यास में ही उसके साक्षी रुप से आत्मा का प्रकाश होता है और भास तथा अध्यास का अनादि प्रवाह चलता रहता है इसमें अन्योन्याश्रयादि सम्बन्ध न है, चेतनात्मा स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि अविषय है तथापि औपाधिक कर्त्ता भोक्ता जीव भाव से विषय है। यह आत्मा अस्मत् प्रत्यय का विषय है और स्वयं प्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष भी है अतः अप्रसिद्ध भी नहीं है। अन्तरात्मा रुप से अत्य प्रसिद्धि से ही इसमें स्वयं प्रकाशरुपता है। यह स्वयं प्रकाशस्वरुप आत्मा स्वशक्ति अविद्या माया का विरोधी नहीं है इससे अविद्याजन्य अध्यासादि होते ही हैं। आत् के अस्मद् प्रत्यय विषयत्व की व्याख्या भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका इस प्रकार किया है—

सत्यं प्रत्यग्आत्मा स्वयंप्रकाशत्वात् अविषयोः अनशश्च तथापि अनिर्वचनीय अविद्यापरिकल्पत बुद्धिमनः सूक्ष्मस्थूल शरीरेन्द्रियावच्छदेन अनवच्छिन्नोपि वस्तुतो च्छिन्नो इवभिन्नोपि भिन्नइवकर्तापि कर्तेवाभोक्तापि भोक्तेवाविषयोऽयस्मतप्रत्यय विषय जीव भावमापन्नोऽवभासते, नभ इव घट मणिक मल्लिकाद्यवच्छेदभेदेन भिन्नमिवानेक धर्मकमिवेति।

पुनः आचार्य शंकर उनके इस तर्क को भी दूषित बताते हैं कि आगे स्थित अवरो या प्रत्यक्ष विषय में ही अन्य समुपस्थित विषय का अध्यास होना चाहिए अन्यत्र न ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि रुपस्पर्शादि के अभाव से अप्रत्यक्ष इन्द्रियों का अविष आकाश में भी अविवेकी लोग तल और मालीनता आदि का जहाँ अध्यास करते वहाँ नेत्रवृत्ति से व्यक्त साक्षीभास्य बहिन्द्रिय से अप्रत्यक्ष आकाश में भी अध्यास हो है। इस प्रकार अन्तरात्मा चेतन में भी अन्तरात्मा अन्तःकरणादी का अध्यास अविरुद्ध यह सिद्ध हुआ।

यहाँ तक अध्यास और अध्यास के भेदों का विवेचन किया गया है। इस विवेच से यह स्पष्ट हो गया कि अज्ञान ही बन्ध का कारण है अन्यथा आत्मा स्वयं प्रकाश चैतन्य स्वरुप है। वह निरीह, असङ्ग एवं उदासीन है। इस अज्ञान को अन्य लोगों अविद्या कहा है और समस्त अनर्थ का हेतु भी कहा है। इसकी निवृत्ति विद्या से हो है। मिथ्या अध्यस्त वस्तु से विवेक करके सत्यात्म वस्तु के स्वरुप का अध्यास के अ

ष्ठान के अवधारण को पण्डित लोग विद्या कहते हैं। स्वरुपनिष्ठ वह विद्या अध्यास को भी नष्ट कर देती है। इस प्रकार अनर्थ रुप अविद्या के अध्यासात्मक होने से स्वस्वरुपावधारण होने पर उसकी निवृत्ति में जहाँ जिसका अध्यास रहता है वह अध्यासाश्रय अध्यस्त के गुण अथवा दोषों से अणुमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता है। केवल वहाँ भास मात्र होता है. विवेक पूर्वक अवधारण होने पर यह भास भी निवृत्त हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्तकरणादि के दोष शोकादि से चिद्‌आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता और चिद्‌आत्मा के आनन्दादि से अन्तःकरणादि का सम्बन्ध होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि यह आत्मा अपने स्वरुप को क्यों नहीं पहचान पाता और आकाश आदि प्रपञ्च को रचने में इसकी प्रवृति क्यों होती है? इस शंका का समाधान करने के लिए अज्ञान की दोनों शक्तियों को जान लेना आवश्यक है। ये दोनों शक्तियाँ आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रमाता की दृष्टि के आगे अविद्या का पर्दा डालकर सच्चिदानन्द स्वरुप को ढँक देने वाली शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं जिस प्रकार एक छोटा सा बादल का टुकड़ा आँख के सामने आकर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को भी दर्शक की आँखों के आगे से ढँक लेता है उसी प्रकार अज्ञान यद्यपि परिछिन्न है फिर भी उसमें ऐसी शक्ति है कि वह प्रमाता की बुद्धि के आगे पर्दा डालकर अपरिछिन्न एवं व सारी आत्मा को उसकी दृष्टि से ढँक लेता है। वास्तव में आत्मा नित्योपलब्धि स्वरुप है। किसी से भी कभी छिप नहीं सकता और न कभी सांसारिक बन्धनों से बँध सकता हैं। किन्तु मूर्ख व्यक्ति उसको बँधा हुआ समझता है। अविद्या की इसी आवरणशक्ति से युक्त आत्मा अपने आप को सांसारिक विषयों का कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी आदि समझता है। परन्तु यह सब अध्यास होने के कारण क्या है। वास्तव में यह नाम-रुपात्मक सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही हैं फिर भी उसका वास्तविक ज्ञान न होने के कारण इसमें अज्ञानी व्यक्तियों की सांसारिक बुद्धि रहती है।

ब्रह्म से लेकर स्थावर-पर्यन्त सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् को उत्पन्न करने वाली शक्ति विशेष शक्ति कहलाती है। जिस प्रकार अज्ञान अपनी आवरण शक्ति से अज्ञान वृत्त होकर रस्सी में सर्पपत्व की भावना कराता है, उसी प्रकार आत्म विषयक अज्ञान अपने सामर्थ्य से अज्ञानवृत्त आत्मा में विशेष शक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्मांड पर्यन्त आकाशादि प्रपञ्च की उद्‌भावना करता है। इसे ही दृश्य विवेक में

इस प्रकार कहा गया है–

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरुपकम् । विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजते अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्म सर्गयोः । आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ही संसार के प्रपञ्च को रचनेवाला है। अब प्रश्न यह होता है कि यह शक्ति द्वयवत् अज्ञानोपहित चैतन्य आत्मा संसार का निमित्त कारण है अथवा उपादान कारण । यदि निमित्त कारण माना जाय तो उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद में यह कहा गया हैं कि आत्मा सृष्टि रचना करने के बाद उसी में प्रवेश कर जाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह निमित्त कारण नहीं है क्योंकि अपने कार्य में निमित्त व्याप्त नहीं होता अन्यथा यद्यपि कार्य में दण्डादि भी व्याप्त हो जाएगा । अतः आत्मा संसार का निमित्त कारण नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि उपादान कारण है तो भी ठीक नहीं होता क्योंकि यदि चेतन आत्मा संसार का उपादान कारण होगा तो कारण गुणादि हि कार्यगुणानारम्भन्ते इस नियम से कारण के गुण कार्य में भी होने से यह सांसारिक जड़ प्रपञ्च भी चेतन तथा नित्य हो जाएगा क्योंकि आत्मा चेतन स्वयं प्रकाश और नित्य है ।

ऊपर की दोनों शंकाओं का समाधान करते हुए स्वामी सदानन्दजी अपने वेदान्त में लिखते हैं—

शक्ति द्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधि प्रधानतयोपादानं च भवति । यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्व शरीरप्रधानतयोपादानं च भवति ।

अर्थात् एक ही चेतन आत्मा संसार का निमित्त कारण और उपादात कारण दोनों ही है । उदाहरण के लिए जिस प्रकार मकड़ी अपने तन्तुरूप (जाल रूप) कार्य के लिए चैतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण भी है उसी प्रकार अज्ञानोपहित आत्मा अपने चैतन्य की प्रधानता के कारण सांसारिक प्रपञ्च का निमित्त कारण और अपनी अज्ञान प्रधानता के कारण उपादान कारण है । यदि मकड़ी में चेतना का गुण न हो तो केवल उसके शरीर से जाल नहीं बन सकता और यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्य अंश से भी

तन्तु या जाल नहीं बन सकता है। इस प्रकार जालरूपी कार्य के प्रति मकड़ी के चैतन्यांश एवं शरीर दोनों कारण हैं। अन्तर यही है कि चैतन्य प्रधानता के कारण शरीर निमित्त कारण है और शरीर प्रधानता के कारण वही मकड़ी उपादान कारण भी है क्योंकि उसका शरीर से साक्षात् सम्बन्ध है। इस प्रकार शरीरनिष्ठ आत्मा भी जाल का उपादान कारण है। इसी प्रकार ईश्वर भी अपनी चैतन्य प्रधानता के कारण चराचर जगत् का निमित्त कारण है और अज्ञान प्रधानता के कारण उपादान कारण है क्योंकि जगत् अज्ञान जन्य है। माया संसार का उपादान कारण है और वह आत्मनिष्ठ या ईश्वर निष्ठ है अतः माया प्रधान ईश्वर को परम्परया जगत् का उपादान कारण करने में कोई बाधा नहीं। ईश्वर को सृष्टि की रचना के लिए किसी वाह्य साधन का आवश्यकता उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार मकड़ी को अपना जाल रचने में। मुण्डकोपनिषद में इसे इस प्रकार कहा गया है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च, यथापृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥

उपर शंका की गयी है कि ईश्वर को निमित्त कारण मानने से तैत्तिरीयोपनिषद की श्रुति से विरोध होता है। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ईश्वर को उक्त श्रुति में उपादान कारण विषयक बताया गया है। दूसरी शंका जो यह की गयी कि उपादान कारण मानने पर भी संसारादि में ईश्वरत्व अनश्वरत्व आदि का प्रवेश नहीं पाया जाता वह भी उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति में ईश्वर का परिणाम वर्णित है विवंत नहीं अर्थात् जो जिसका परिणाम होता है जैसे दही दूध का परिणाम होता है उसमें उपादान कारण के गुण अवश्य रहते हैं किन्तु जो जिसका विवंत होता हैं जैसे रस्सी में सर्प का भास, उसमें उस कारण के गुण नहीं रह सकते। यह चराचर जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है परिणाम नहीं। अतः उसके प्रधान कारण माया की अपेक्षा परम्परया संबंधित ब्रह्म के उपादान कारण होने पर भी उसके गुण चेतनता एवं नित्यता नहीं रह सकते। विवंत का लक्षण ही यह है कि जो अपने रुप का भी परित्याग न करे और दूसरे रुप को भी प्रदर्शित करे वह विवंत है जैसे चैतन्यनिष्ठ रस्सी विषयक अज्ञान रस्सी के रुप का परित्याग नही करता हुआ भी सर्प रुपी दूसरे रुप को प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार ईश्वर चैतन्यनिष्ठ अज्ञानशक्ति भी चैतन्यस्वरुप

का परित्याग न करती हुई आकाशादि दूसरे रूपों को भी प्रदर्शित करती है इसलिए आकाशादि में ईश्वरनिष्ठ नित्यतादि गुण नहीं हो सकते क्योंकि अज्ञान स्वतः मिथ्या है अतः तज्जन्य प्रपञ्च भी मिथ्या है।

अब प्रत्येक व्यक्ति को यह उत्सुकता होती है कि ईश्वर अपनी विक्षेप शक्ति द्वारा सृष्टि की रचना कैसे करता है, इसलिए संक्षेप में सृष्टिक्रम का वर्णन भी अपेक्षित है। स्वामी सदानन्द जी ने अपने वेदान्त सार में सृष्टि क्रम का निम्नप्रकार से वर्णन किया है—

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहित चैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादि श्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमः प्रधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशदिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। ऐतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।

अर्थात् तमःप्रधानविक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्ररूप आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले सूक्ष्म शरीरों की और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि छान्दोग्योपनिषद में जहाँ जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है उसमें पहले पहल तेज की रचना बतायी गयी है, फिर जल और अन्न एवं उन तीनों के सम्मिलन से जगत् की रचना का वर्णन है। प्रकरण में आकाश की उत्पत्ति का कोई प्रसङ्ग नहीं है। गीता में भी आकाश को विभु माना गया है अतः सिद्ध होता है कि आकाश नित्य है, वह उत्पन्न नहीं होता। किन्तु, यहाँ पर सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति मानी गयी है, यह कैसे सम्भव है? बृहदारण्यक में भी वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतं के द्वारा आकाश को अमृत कहा गया है। तैतिरीयोपनिषद में ही आकाशशरीरं ब्रह्म कहा गया है उससे आकाश की अनन्तता सिद्ध होती है। उसका उत्तर देते हुए ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्म के कार्य से आकाश को अलग न मानने से ही एक के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा की रक्षा हो सकती है। श्रुति के शब्दों से यही सिद्ध होता है क्योंकि उपनिषदों में जो एक को जानने से सबका ज्ञान हो जाने की प्रतिज्ञा की गई

है और उस प्रसङ्ग में जो कार्य-कारण के उदाहरण दिए गए हैं उन सबकी विरोधरहित सिद्धि आकाश को ब्रह्म के कार्य से अलग न मानने पर ही हो सकती है अन्यथा नहीं क्योंकि वहाँ मिट्टी और सुवर्ण आदि का उदाहरण देकर उनके किसी एक कार्य के ज्ञान से कारण के ज्ञान द्वारा सबका ज्ञान होना बताया है अत: यदि आकाश को ब्रह्म का कार्य न मानकर ब्रह्म से अलग मानेंगे तो कारण रुप ब्रह्म को जान लेने पर भी आकाश अपरिचित ही रह जाएगा इससे प्रतिज्ञा की हाँनी होगी। इसी प्रकार वायु आदि ब्रह्म के ही कार्य हैं।

एक शंका यह भी उठती है कि "दैवात्मशक्ति सगुर्णैर्निगुढ़ां" श्रुति में अज्ञान को तीनों गुणों से युक्त कहा है तो आकाशादि की उत्पत्ति तमोगुण की ही प्रधानता से हुई यह कैसे निश्चित हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि आकाशादि कार्य जड़ है इसलिए कारणगुणन्याय से तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति युक्त ही चेतन को आकाशादि प्रपञ्च कारण मानना ठीक है। आकाशादि की उत्पत्ति होने पर अपने- अपने कारण गुण के अनुरुप उत्तरोत्तर उन आकाशादि में सत्, रज्, तम्, तीनों ही गुण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की अपञ्चीकृत सूक्ष्यरुप पञ्चभूत तथा क्रमशः शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रुपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा संज्ञा होती है। इन्हीं सूक्ष्मभूतों से अपञ्चीकृत सूक्ष्म शरीर तथा पञ्चीकृत स्थूलभूतों से स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं।

जिस प्रकार पलाश खदिर आदि के अलग अलग वनों की समष्टि से एक महा-वन बनता है तथा वापी, कूप, तड़ाग आदि भिन्न भिन्न जलाशयों से एक जलाशय बनता है उसी प्रकार कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की समष्टि से एक महाप्रपञ्च बन जाता है। तथा जिस प्रकार वनावच्छिन्न या वृक्षावच्छिन्न एवं जलगत तथा जला-शयगत प्रतिबिम्बाकाश में कोई भेद नहीं उसी प्रकार उस महाप्रपञ्च की समष्टि व्यष्टि तथा तदुपहित चैतन्य ईश्वर, प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ, तैजस्, विश्व, वैश्वानर, आदि में कोई भेद नहीं है। इस महाप्रपञ्च तथा तदुपहित चैतन्य से अभिन्न होकर अनुपाहित, शुद्ध चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म वाक्य का वाच्यार्थ होता है। और वही विविक्त (भिन्न) होने पर लक्ष्यार्थ होता है। अर्थात् जैसे लोहे के गोले को आग में डाल देने से वह लाल हो जाता है और उसको छूने से हाथ जल जाता है तो लोग कहते है कि मैं लोहे से जल

गया। पर वास्तव में दाहकता शक्ति अग्नि में होती है। आग के सम्पर्क से लोहा तथा आग का अन्योन्यतादात्म्याध्यास होता है उसी प्रकार महाप्रपञ्च तथा तदवच्छिन्न चैतन्य के साथ अन्योन्य तादात्म्याध्यासापन्न जो अनुपहित शुद्ध चैतन्य है वही 'सर्व खल्विदंब्रह्म का वाच्य अर्थ है और उक्त महाप्रपञ्च एवं तदवच्छिन्न चैतन्य के अन्योन्य तादात्म्याध्यास से जब शुद्ध चैतन्य को अलग मानते हैं तो वही 'सर्वं खल्विदंब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है और लक्षण के द्वारा सर्वप्रपञ्च तथा चैतन्य की एकता सिद्ध होती है।

अद्वैत वेदान्त में जो मूलतत्व प्रमुख रुप से विचारणीय है वह आत्मतत्व या आत्मा है। यह सारा जगत् अनुभूत पर अवलिम्बित है और अनुभव के ही आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार चलते हैं। यह अनुभव आत्मा को ही होता है। क्योंकि आत्मा को ज्ञातारुपेण उपलब्धि के बिना विषय का ज्ञान संभव नहीं है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्त्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्य रहता है। प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है अतः इन व्यवहारों से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता। निराकरण आगन्तुक वस्तु का होता हैं, स्वभाव का नहीं। अन्यथाभाव ज्ञातव्य में संभव है, ज्ञाता में नहीं। यह आत्मा ज्ञान रुप है और ज्ञाताभी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक नहीं होता। ये दो भिन्न भिन्न वस्तु नहीं हैं। इसे पदार्थ के आवीर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञाता रुप से प्रकट हो जाता है। जगत के ज्ञेयरुपेण जब उपस्थित होती है तो आत्मा के ज्ञाता रुप का उदय होता है। परन्तु उसके अभाव में आत्मा की सर्वदा ज्ञान रुपेण स्थिति रहती है। एक ही ज्ञान कर्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होने पर भिन्न सा प्रतीत होता है परन्तु वह वास्तव में एकही अभिन्न पदार्थ है। रामानुज ने भी धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मानकर इसी सिद्धान्त को अपनाया है।

ज्ञान भी नित्यानित्य भेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न वृतिमात्र है जो विषय सान्निधयं होने पर उत्पन्न होता है परन्तु वस्तु के अभाव में अविद्यमान रहता है। नित्यज्ञान इससे नितान्त भिन्न है। वह सर्वथा तथा सर्वदा विद्यमान रहता है। आत्मा का ज्ञान इसी नित्य कोटि का होता है क्योंकि वह कर्त्ता रुप है और कर्त्तारुप ज्ञान सदा नित्य होता है। आत्मा की दृष्टि नित्य होती है इसी

लिए श्रुति आत्मा की दृष्टि को द्रष्टा बतलाती है। लोक में भी आत्मा की दृष्टि नित्य मानी जाती है।

जैसा की उपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक विषयानुभूत में दो अंश होते हैं—अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभव का विषयभूत ज्ञेय पदार्थ। यद्यपि कुछ लोग जीव और जगत् की दो पृथकभूत दो स्वतन्त्र सत्तायें मानते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होता है। जगत् की सत्ता केवल व्यवहारिकी है। व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकृत की गयी है। जगत् की व्यवहारिकता प्रदर्शन करते हुए आचार्य शंकर का मत है कि ज्ञप्ति आत्मा का स्वरुप है तथा नित्य हैं। चक्षु आदि द्वारा परिणत होने वाली बुद्धि को जो शब्दस्पर्शादि प्रतीतियां है वे आत्म-विज्ञान के विषयभूत होकर ही उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वे आत्मज्ञान के द्वारा प्राप्त होती हैं। अतः जगत् की समस्त वस्तुएँ आत्मविज्ञान के द्वारा प्राप्त होकर उत्पन्न होती हैं। नाम रुप से विकार प्राप्त होनेवाले पदार्थ अन्तर्निदिष्ट कारण शक्ति के साथ ही परिणत हुआ करते हैं। नामरुप की जिन अवस्थाओं में विकृत होती है उन सब अवस्थाओं में वह विकृति आत्मस्वरुप का परित्याग नहीं करती। अर्थात् कार्य सत्ताओं में कारण सत्ता सर्वदा अनुस्यूत रहती है। जगत् की कलायें, उत्पत्ति, स्थिति तथा लय दशाओं में सर्वथा चैतन्य से अव्यतिरिक्त अपृथकभूत ही रहती है। चैतन्य ब्रह्म का स्वरुप है अतः अपने जीवन की सब अवस्थाओं में पदार्थ ब्रह्म के साथ अभिन्न रुप से स्थित रहते हैं। उस विशाल विश्व के भीतर देश काल से प्रविभक्त भूत वर्तमान या भविष्यत् कोइ भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक् या भिन्न हो। अतः प्रत्येक अनुभूति में हम आत्मा की ही विषयी या विषय रुप से कर्त्ता या कर्म रुप से एक अखण्डाकार उपलब्धि पाते हैं। विषयी-विषय का पार्थक्य परमार्थतः न होकर व्यवहारमूलक ही है।

देशकाल अद्वैत सिद्धान्त के बाधक नहीं हैं। घर की दिवाल उसे बाध्य वस्तुओं से पृथक करती सी प्रतीत होती है परन्तु यह प्रतीति काल्पनिक है क्योंकि ज्ञानरुप से, आत्मा से अवभासित किए जाने के कारण दीवाल भी आत्मा से भिन्न नहीं है, तब तव वस्तुओं का व्यवछेद क्योंकर हो सकता है। विषयात्मक होने से दिक् भी आत्मरुप है तब आत्मस्वरुप दिक् आत्म चैतन्य में अवभासित तथा व्याप्त पदार्थों को पृथक कैसे

कर सकता है। पूर्व, पश्चिम आदि उपाधियों से विभक्त दिक् की एकता में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता। उसी प्रकार भिन्नभिन्न पदार्थों की सत्ता रहने पर भी आंत्मा की एकता बनी ही रहती है। आचार्यशंकर ने देश काल को माया की कल्पना माना है, अर्थात् देश और काल से होनेवाले भेद केवल काल्पनिक होते हैं वास्तविक नहीं। इस प्रकार जगत् में एक ही अखण्ड सत्ता विद्यमान है जो उस सत्ता को जानता है वह सच्चा तत्वज्ञानी होता हैं। इस प्रकार आत्मा की अद्वैततां स्वतः होती है।

तत्त्वमसि की सिद्धि :— श्री सदानन्द जी ने तत्त्वमसि को महावाक्य के रुप में माना है और इसकी सिद्धि अध्यारोप और अपवाद के द्वारा ही माना है। तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ को बताते हुए उन्होंने कहा है कि जब अध्यारोप और अपवाद के द्वारा साधक को यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह समस्त नामरुपात्मक जगत् ब्रह्म है या ब्रह्म ही यह समस्त नानरुपात्मक जगत् है तब उसे 'तत्त्वमसि' महावाग्य के तत् और त्वम् पदों का तात्पर्य भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है अर्थात् वह जब जान लेता है कि अज्ञान और कारण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की समष्टि इससे उपहित सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य अर्थात् ईश्वर एवं इनसे अज्ञानादि अनुपहित चैतन्य अर्थात् शुद्ध ब्रह्म या तुरीय चैतन्य इन तीनों का समुदाय अग्नि से तपे हुए लोहे के पिण्ड के समान एक अभिन्न रुप से अवभासित होता हुआ तत् पद का वाच्चार्य है तथा अज्ञानादि उपाधि और उससे उपहित ईश्वर का आधारभूत अनुपहित शुद्ध ब्रह्म या तुरीय चैतन्य अकेला विविक्त रुप में तत् पद का लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार अज्ञान एवं कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की व्यष्टि इससे उपहित चैतन्य अर्थात् प्राज्ञ या जीव तथा इनसे अनुपहित चैतन्य अर्थात् शुद्ध तुरीय चैतन्य इन तीनों का समुदाय अग्नि से तपे हुए लोहे के पिण्ड के समान एक अभिन्न रुप से अवभासित होता हुआ त्वम् पद का वाच्चार्थ है और अज्ञानादि उपधि और उससे उपहित जीव का आधारभूत अनुपहित शुद्ध ब्रह्म या तुरीय चैतन्य अकेला विविक्त रुप से त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है। तात्पर्य यह है कि तत् और त्वम् इन पदों के दो दो अर्थ हैं। एक वाच्यार्थ और दूसरा लक्ष्यार्थ। दोनों पदों का लक्ष्यार्थ एक ही है और वह है अनुपहित शुद्ध ब्रह्म या चैतन्य परन्तु दोनों का वाच्यार्थ भिन्न भिन्न है। तत् पद का वाच्यार्थ अज्ञान समष्टि रुप उपाधि से युक्त चैतन्य अर्थात् ईश्वर है और

त्वम् पद का अर्थ अज्ञान व्यष्टि रुप उपाधि से युक्त चैतन्य अर्थात् जीव। तत् और त्वम् का ईश्वर और जीव के रुप में वाच्यार्थ लेने पर यह जिज्ञासा होती है कि जव जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है तो दोनों में स्पष्टतया परस्पर भिन्नता की प्रतीति होती है। फिर श्रुति ने जो तत त्वमसि वाक्य के द्वारा दोनों की एकता या अभिन्नता वतायी है उसका क्या तात्पर्य हैं। इस शंका का समाधान करते हुए सदानन्दजी लिखते हैं कि यह वाक्य अखण्डार्थ का बोध कराता हुआ एकमात्र शुद्ध ब्रह्म या चैतन्य का प्रतिदान करता है। अखण्डार्थ का बोध तीन सम्बन्धों से होता है। जैसे कि मूल कारिका में कहा गया है—

इदं तत्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थ बोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्:—

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥

अर्थात् ये तीन सम्बन्ध समानाधिकरण्य विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध और शुद्ध ब्रह्म या चैतन्य रुप प्रत्यगात्मा और तत् एवं त्वम् पदों का लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध। इन संबंधों से तत त्वमसि श्रुतिवाक्य का प्रतिपादन होता हैं। इसके विवेचन के लिए वेदान्त-सार में 'सोऽयं देवदत्तः' इस लौकिक वाक्य को उदाहरण के रुप में रखकर निम्न रुप से किया गया है—

सामान्याधिकरण्य सम्बन्ध :— भिन्नार्थक या भिन्न प्रकृति निमित्त वाले पदों के एक अर्थ में तात्पर्य सम्बन्ध बताने की वृत्ति को सामान्याधिकरण्य सम्बन्ध कहते हैं। भिन्न प्रकृति निमित्तानां शब्दानां एक स्मिनऽर्थे वृत्तिः तात्पर्य सम्बन्धः सामानाधिकरण्यं। जिस प्रकार सोऽयं देवदत्तः इस वाक्य में तत् काल तत्देश विशिष्ट रुप अर्थ के वाचक सः पद एवं एतद् काल एतद् देश विशिष्ट रुप अर्थ के वाचक अयं पद के परस्पर भिन्नार्थक होने पर भी दोनों पदों का एक ही देवदत्त रुप पिण्ड में तात्पर्य सम्बन्ध होता है उसी प्रकार तत् त्वमसि इस वाक्य में भी परोक्षत्व सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट रुप अर्थ वाचक तत् पद एवं अपरोक्षत्व किञ्चित ज्ञत्वादि विशिष्ट रुप अर्थ के वाचक त्वम् पद के परस्पर भिन्नार्थक होने पर भी दोनो पदों का एक ही शुद्ध चैतन्य रुप अर्थ में तात्पर्य सम्बन्ध होता है।

उक्त वाक्यों में उनके विभिन्नार्थक विभिन्न पदों का एक समान अर्थ में तात्पर्य सम्बन्ध ही सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विशेषण-विशेष्यभाव संबध :— जो व्यवच्छेदक या व्यावर्त्तक होता है वह विशेषण होता हैं अर्थात् जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों से व्यावृत कर देता है उसे विशेषण कहते हैं, और जो व्यवच्छेद्य या व्यावर्त्य होता है वह विशेष्य होता है। दूसरे शब्दों में जो पदार्थ किसी की विशेषता बनता है वह विशेषण होता है और वह जिसकी विशेषता बनता है वह विशेष्य होता है। विशेषण और विशेषष्य का परस्पर सम्बन्ध ही विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध कहा जाता है। उदाहरण के लिए सोऽयं देवदत्तः वाक्य में जब इस प्रकार वोध होता है कि अयं शब्द वाच्य जो एतद्काल एतद्देशविशिष्ट देवदत्त है वह सः पद वाच्य तद्काल, तद्देशविशिष्ट देवदत्त ही है इससे भिन्न नहीं। तब सः शब्द वाच्य उक्त अर्थ अयं शब्द वाच्य अर्थ का विशेषण होतां है और अयं शब्द वाक्य अर्थ सः शब्द वाक्य अर्थ का विशेष्य होता है। और इस प्रकार उक्त दोनों पदों के उक्त अर्थ परस्पर विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध रखते हुए ऐसे एक ही देवदत्तरुप पदार्थ का निर्देश करते हैं जिसमें अयं शब्द वाच्य अर्थ विशेष्य और सः शब्द वाच्य अर्थ विशेषण है। सः शब्द वाच्य अर्थ अयं शब्द वाच्य को अन्य प्रकार के विशेष्यों से व्यावृत कर देता है। यदि उक्त वाक्य में ही अयं

यदि सोऽयं देवदत्तः वाक्य के सः और अयं पदों में तथा तत्त्वमसि वाक्य के तत् और त्वम् पदों में परस्पर सामानाधिकरण सम्बन्ध और उक्त पदों के अर्थों में परस्पर विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध ही केवल माने जायँ तो यह तात्पर्य निकलेगा कि सः और अयं पद एक ही देवदत्त रुपपिंड का तथा तत् और त्वम् पद एक ही चैतन्य रुप अर्थ का निर्देश करते हैं और साथ ही सः और अयं पदों तथा तत् और त्वम् पदों के अर्थों में से एक अर्थ विशेषण और दूसरा अर्थ विशेष्य है। इसका फलितार्थ यह होगा कि देवदत्त रुप पिंड जहाँ एतद्देशकालविशिष्ट तथा अपरोक्षत्वविशिष्ट है वहीं तद्देश-काल विशिष्ट और परोक्षत्वविशिष्ट भी है और इसी प्रकार जहाँ चैतन्य अपरोक्षत्व एवं अल्पज्ञत्व विशिष्ट है वही वह परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्व से भी विशिष्ट है। इस प्रकार एक तो यह विरोध पड़ता है कि जो देवदत्त एतद्देशकालविशिष्ट और अपरो-क्षत्वविशिष्ट है उसे तद्देशकालवि शिष्ट एवं परोक्षत्व विशिष्ट कैसे कहा जा सकता

है ? इसी प्रकार जो चैतन्य अपरोक्षत्व एवं अल्पज्ञत्व से विशिष्ट है उसे ही परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्व से विशिष्ट कैसे कहा जा सकता है ? दूसरे देवदत्त और चैतन्य दोनों का विशिष्टत्व भी सिद्ध हो जाता है । अद्वैतवादियों को निर्विशेषवाद के मानने के कारण चैतन्य का विशिष्टत्व सिद्ध होना उसके सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है, इसलिए वे इन सम्बन्धों से आगे बढ़कर उक्त विरोध एवं चैतन्य की विशिष्टता का निरास करने के लिए उक्त दोनों वाक्यों में लक्षणा मानते हुए इन वाक्यों के उक्त पदों एवं उनके वास्तविक अर्थों में लक्ष्य लक्षणभाव सम्बन्ध मानते हैं ।

लक्ष्य लक्षणभाव संबंध: :—

जब कहीं लक्षणा मानी जाती है तब वहाँ लक्ष्य लक्षणभाव सम्बन्ध होता है । जिन पदों में लक्षणा मानी जाती है वे लक्षण कहे जाते हैं और लक्षणा से उनका जो अर्थ लिया जाता है उसे लक्ष्य कहते हैं तथा इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध लक्ष्य लक्षणभाव संबंध कहलाता है । ऊपर कहा जा चुका है कि सामान्यधिकरण एवं विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध के द्वारा सिद्धान्त विरोध की आशंका को दूर करने के लिए अद्वैत वेदान्तियों ने लक्ष्य-लक्षणभाव संबंध का आश्रय लिया है । सोऽयं देवदत्तः वाक्य में तथा तत्त्वमसि वाक्य में एक विशेष प्रकार की भाग लक्षणा या जहद्अजहद् स्वार्था लक्षणा मानते हैं जिसके अनुसार इन पदों के अर्थों में से विरुद्ध अंश का परित्याग कर दिया जाता है तथा अविरुद्ध अंश का ग्रहण कर लिया जाता है । इस प्रकार सोऽयं देवदत्तः इस वाक्य में सः ओर अयं पदों के तद्देशकाल विशिष्ट देवदत्त और एतद्देशकाल विशिष्ट देवदत्त रुप अर्थों में से परस्पर विरुद्ध अंश तद्देशकालविशिष्टत्व और एतद्देशकालविशिष्टत्व का परित्याग कर अविरुद्ध अंश देवदत्त का ग्रहण कर लिया जाता है जिससे उस वाक्य के प्रतिपाद्य में कोई विरोध नहीं रहता । इसी प्रकार तत्त्वमसि इस महावाक्य में तत् और त्वम् पदों के परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य एवं अपरोक्षत्वसर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य रुप अर्थों में से परस्पर विरुद्ध परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादि विशिष्टत्व और अपरोक्षत्वअल्पज्ञत्वादिविशिष्टत्व का परित्याग कर अविरुद्ध अंश चैतन्य का ग्रहण किया जाता है और इस प्रकार तत्त्वमसि का लाक्षणिक अखण्ड अर्थ चैतन्य मात्र मानते हुए इस वाक्य को अखण्डार्थ बोधक माना जाता है । ऐसा मानने पर अद्वैत वेदन्तियों के अनुसार तत्त्वमसि वाक्य में प्रतिपाद्य के विषय में कोई विरोध नहीं रहता ।

यहाँ पर कुछ वि ोधी भाग लक्षणा को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि यहाँ विशेशण विशेष्य भाव संसर्ग ही होगा। लक्षणा की आवश्यकता नहीं। जैसे नीलोत्पल में विशेषण-विशेष्य से ही वाक्यार्थ संगत कहलाता है वैसे तत्त्वमसि में भी संगत हो जाएगा। श्री सदानन्द जी उत्तर देते हुए कहते हैं कि नीलोत्पल वाक्य में नील गुण है और उत्फल गुणी अतः इन दोनों गुण-गुणि का विशेषण-विशेष्य सगत जो नीलगुणविशिष्ट है वही उत्पल है इस प्रकार का इन दोनों का विशिष्ट वाक्यार्थ स्वीकार करने में कोई विरोध्र नहीं। यहाँ संसर्ग या विशिष्ट वाक्यार्थ ठीक है। किन्तु तत्त्वमसि में तत और त्वम् ये दोनों द्रब्य है अतः यहाँ पर संसर्ग या विशिष्ट वाक्यार्थ संभव नहीं क्योंकि तत् पद का अर्थ है- परोक्षत्वदिविशिष्ट चैतन्य, और त्वम् पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य। इस कारण दो द्रब्यों का विशेषण-विशेष्य भाव रुप संसर्ग अथवा जो नील गुण विशिष्ट वही उत्पल की तरह परोक्षत्वादि विशिष्ट जो चैतन्य वही अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य वही अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य इस प्रकार के विशिष्ट वाक्यार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि जो तत् पद वाच्य परोक्षत्वादि सर्वज्ञ चैतन्य है यह त्वम् पदवाच्च अपरोक्षत्वादि विशिष्ट अल्पज्ञ जीव चैतन्य नहीं हो सकता। इस प्रकार सामान धिकरण्य इत्यादि के द्वारा यह महावाक्य अखण्डैक रस ब्रह्म का बोधक है। इसे पञ्चदशी में प्रकार कहा गया है —

संसर्गो वा विशिष्टोवा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥

शब्द वाच्य अर्थ को विशेषण और सः शब्द वाच्य को विशेष्य माना जाय तो अयं शब्द वाच्य अर्थ सः शव्दवाच्य अर्थ को अन्य प्रकार के विशेष्यों से ब्याप्त कर देता है। इस प्रकार दोनों हीं पदों के अर्थ परस्पर विशेषण और विशेष्य हो सकते हैं। और फलतः दोनों ही अपने विशेष्य की अन्य प्रकार के विशेष्दों से ब्यावर्तन करते हैं अतः वे अन्योन्यभेदव्यावर्तक हैं तथा ऐसे एक ही देवदत्त रुप पिंड का निर्देश करते हैं जिसमें एक पद की वाच्य विशेष्यरुप होता है और दूसरे पद का वाच्य विशेषण रुप होता है। ठीक इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य में जब यह अर्थ प्रतीत होता है कि त्वम् पद वाच्य जो अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य है वह तत् पद वाच्य परोक्ष त्वादि विशिष्ट चैतन्य ही है उससे भिन्न नहीं तब तत् शब्दार्थ त्वम् शब्दार्थ की अन्य प्रकार के भेदों

से व्यावर्तक होने के कारण विशेषण एवं त्वम् पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य होता है। और जब ऐसी प्रतीति होती है कि तत् पदवाच्य जो अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य है वह ब्रह्म पद वाच्य रोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य ही है उससे भिन्न नहीं तब त्वम् पदार्थ व्या र्तक होने के कारण विशेषण और तत् पदार्थ व्यावर्त होने के कारण विशेष्य होता है। इस प्रकार उक्त दोनों पदों के अर्थ परस्पर विशेषण एवं विशेष्य हो जाते हैं और दोनो विशेषण रुप में अपने विशेष्य का अन्य प्रकार के भेदों से व्यावर्तक करते हैं। और फलतः वे अन्ययोन्य भेद व्यावर्तक हैं तथा इसे एक ही चैतन्य का निर्देश करते हैं जिसमें एक पद का वाक्य विशेष्यरुप होता है और दूसरे पद का वाच्य विशेषण रुप होता है।

यहाँ पर पुनः आपत्ति होती है कि साहित्यशास्त्र में अथवा अन्य किसी भी दर्शन में जहदजहद्लक्षणा मान्य नहीं है। उसके जगह पर जहल्लक्षणा ही मान्य है। पुनः जहल्लक्षणा के द्वारा ही तत्त्वमसि की अखडैक रस ब्रह्म बोध का होना सम्भव है। पुनः भाग लक्षण मानने की क्या आवश्यकता है ? जहल्लक्षणा का शास्त्रों में इस प्रकार उल्लेख किया गया है कि मुख्यार्थबाधेवाक्यार्थ मशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धी अन्यऽर्थान्तरे वृत्तिः जहल्लक्षणा। सा चतत्रैव भवति यत्र मुख्यार्थ बाधः अर्थात् जहाँ पर मुख्यार्थ की वाधा होने पर वाक्यार्थ को पूर्ण रुप से त्यागकर उसमे सम्बन्धित अर्थान्तर बोध की वृत्ति को जहल्लक्षणा कहा जाता है। जैसे गंगायांघोषः यहाँ गंगा शब्द का भगीरथरथ-खातावच्छिन्न जलप्रवाहः गंगा रुप अर्थ है जहाँ पर घोष को स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः गंगा शब्द अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा त्यागकर सामीप्य सम्बन्ध से तीर अर्थ का बोधक हो जाता है। इस प्रकार गंगायांघोषः यहाँ पर गंगायासतीरे घोषः इस अर्थ को प्रकट करने के लिए जहल्लक्षणा का सहारा होता है क्योंकि गंगा में घोष होना जो वाच्चार्थ है वह सर्वथा विरुद्ध है किन्तु यदि यह कहा जाय कि तत् पद वाच्य परोक्षत्वादि विशिष्ट सर्वज्ञ चैतन्य त्वम् पद वाच्य अल्पज्ञ चैतन्य नहीं हो सकता और न अपरोक्षत्वादि विशिष्ट जीव चैतन्य सर्वज्ञ चैतन्य ही हो सकता है। अतः यहाँ भी गंगायां घोषः की तरह वाच्यार्थ बाधित होता है। इसलिए यहाँ भी तत् पद की त्वम् पद में या त्वम् पद की तत् पद में लक्षणामान ली जाय जिससे कि दोनों पद अखण्डैक चतन्य रुप अर्थ के बोधक हो जायँ तो यह बात ठीक नहीं हो सकती क्योंकि जहल्लक्षणा वहीं

तथा अप ोक्षत्व विशिष्ट अंशों में परस्पर विरोध है। इसलिए इन विरुद्धांशों को त्याग कर और चैतन्यांश को न त्यागकर तत् और त्वम् पद अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य मात्र को लक्षित करते हैं। इस प्रकार तत् और त्वम् पद वाच्य ब्रह्म और जीव तथा जगत् का तादात्मा ज्ञान सम्पन्न हो जाता है। तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ का ज्ञान हो जाने के के बाद जिज्ञासु साधक को अहं ब्रह्मास्मि का अनुभव होने लगता है। इसे श्री सदानन्द जी ने अपने वेदान्त सार में इस प्रकार प्रतिपादित किया है —

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्त्येत तदैव हि ॥
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः श्रुणु ।
पूर्णानन्दैकरुपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥
प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ?
अद्वयानन्दरुपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥

तथा

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरुपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥
श्रेतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वम्–पदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥

और

एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्तद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा नु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्मविषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिल कारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिविम्बतं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयं प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्यमुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।

अर्थात् जब गुरु के द्वारा अध्यारोप एवं अपवाद के ज्ञानपूर्वक तत् और त्वम् पदार्थों के बोधन द्वारा सम्पूर्ण वाक्य तत्त्वमसि द्वारा अखण्डार्थं ब्रह्मैक्य रुप अर्थ का बोध करा दिया जाता है तब अधिकारी के हृदय में यह अखण्डाकाराकारीत चित्वृत्ति उदय होती है कि मैं ही नित्य शुद्ध बुद्ध आदि स्वरुप ब्रह्म हूं। अब यहाँ पर संदेह होता है कि चित्वृत्ति तो जड़ है अतः जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्यमण्डल में नहीं व्याप्त हो सकता उसी प्रकार जड़ चित्तवृत्ति भी स्वयं प्रकाश एवं नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा को अपना विषय बनाकर नहीं उदय हो सकती। इसके उत्तर में यह कहा गया कि वह चित्वृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती बल्कि अज्ञानविशिष्ट प्रत्यग् अभिन्न विषयिणी होती है। उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब वह प्रत्यगचैतन्यगत अज्ञानावरण को दूर कर देती है। यही अज्ञानाव ण का दूर करना उसके उदय होने का प्रयोजन है। प्रत्यग् चैतन्यगत पर ब्रह्म विषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही उसे यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही नित्य शुद्ध बुद्ध स्वरुप ब्रह्म हूं।

पुनः यहाँ पर एक संदेह होता है कि अधिकारी जब तत्त्वमासि इत्यादि वाक्यों को सुनता है तो उसके तात्विक ज्ञान से अखण्ड चैतन्य वृत्ति के कारण प्रत्यग् चैतन्यगत् अज्ञान भले ही नष्ट हो जाय पर अज्ञान का कार्य जो सकल चराचर प्रपञ्च है वह तो प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा अतः एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इस वाक्य की सिद्धि कैसे होगी इस शंका का निवारण करने के लिए मूल में कहा गया है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है जैसे तन्तुरुप कारण के जल जाने पर पटरुप कार्य का भी नाश हो जाता है उसी प्रकार वहाँ भी अज्ञान कारण है और चराचर प्रपञ्च उसका कार्य इसलिए अज्ञानरुपी कारण के नष्ट हो जाने पर उसका कार्य चराचर प्रपञ्च भी नष्ट हो जायेगा, उसका भास नहीं होगा। अब यदि यह कहे कि प्रपञ्च के नष्ट होने पर भी अखण्डाकाराकारित वृत्ति तो अविशिष्ट रहेगी ही अतः फिर भी अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती तो उनका उत्तर यह है कि वह वृत्ति भी अज्ञान तथा उसके कार्य प्रपञ्च के अन्तर्गत ही है अत कारण भूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर प्रपञ्च एवं वृत्ति दोनों नष्ट हो जाएँगे।

इतना होने पर यह संदेह रह ही जाता है कि अज्ञान एवं चराचर प्रपञ्च तथा

अखण्डाकाराकारित चित्वृत्ति तीनों के नष्ट हो जाने पर भी वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्यभास तो रहेगा ही अत. तब भी अद्वैत की सिद्धि नहीं होती । उसका उत्तर यह है कि अखण्डाकारवृत्ति के नष्ट हो जाने पर भी चैतन्य का प्रतिविम्व पड़ रहा था अब अलग नहीं प्रतीत हो सकता जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है पर यदि दर्पण न रहे तो केवल बिम्ब अर्थात मुखमात्र ही भासित होगा क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब अलग नहीं प्रतिभासित हो सकता है। इसी प्रकार वृत्ति में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था वह वृत्ति के नष्ट हो जाने पर अलग न भासित होकर बिम्बमात्र शेष रह जाएगा अर्थात जैसे दीपक की प्रभा सूर्य को अवभासित नहीं कर सकती अतः उसके आगे क्षीण हो जाती है उसी प्रकार स्वयं प्रकाश स्वरुप प्रत्यगभिन्न परब्रह्म की वह चैतन्य प्रतिबिम्ब अवभासिक नहीं कर सकता प्रत्युत जिस अखण्डाकाराकारित चित्वृत्ति के द्वारा वह अलग प्रतीत हो रहा था उसके नष्ट ही जाने पर उसी प्रकार बिम्ब मात्र रह जाएगा जिस प्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के रहते तक तो दिखाई देता है किन्तु दर्पण के अभाव में मुखमात्र ही शेष रह जाता है ठीक उसी प्रकार वृत्ति के न होने पर उस चैतन्य के प्रतिबिम्ब का भी बिम्ब प्रत्यगभिन्न परब्रह्म मात्र ही रह जाता है ।



पंचम अध्याय

बौद्धवाद एवं बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के विषय में प्रथम अध्याय में ही प्रारम्भिक परिचय दिया जा चुका है। यहां पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए विशेष ज्ञान अपेक्षित है। अतः इसके मुख्य सिद्धान्तों एवं तथ्यों तथा सम्प्रदायों और दर्शन के विषय में ज्ञान कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। महात्मा बुद्ध ने अपने युग की परिस्थिति के अनुरुप जिस धर्म का प्रवर्तन किया उसकी शीतल छाया में करोड़ों प्राणी आज भी अपने जीवन को कल्याणमय बनाते हैं तथा मानव जीवन की कृतकृत्यता प्राप्त करते हैं। बौद्ध धर्म वैदिक कर्मकाण्ड के परिवृंहण के प्रति आचार मार्ग की प्रतिक्रिया स्वरुप उदय हुआ था। यज्ञ-यांज्ञ उपासना के प्रतीकात्मक रुप हैं जिनका उपयोग अध्यात्म मार्ग के पथिकों का उपादेय सम्बल था। किन्तु कालान्तर में इससे तत्वज्ञान दूर और बाह्याचरण नजदीक आता गया। युग के भौतिक तथा संदेहवादी वातावरण ने इस प्रवृत्ति को और भी अग्रसर किया अतः बुद्ध ने मानव समाज के शिथिल तथा विच्छृंखल आचरण को सुधारने तथा व्यवहार और अध्यात्म दोनों दृष्टि से स्वस्थ तथा जागरुक समाज का निर्माण करने के लिए अपने उपदेश प्रचारित किए।

इस संसार में दुःख की सत्ता इतनी व्यापक, प्रभावशाली और वास्तविक है कि कोई भी अध्यात्मवादी या धर्मोपदेशक उसे झूठा नहीं सिद्ध कर सकता। दुःख की सत्ता सिद्ध होने पर उसके उदय, निषेध तथा निरोधक मार्ग की मीमांसा प्रत्येक तत्व-चिन्तक का कर्त्तव्य हो जाता है। तथागत ने विषयासक्ति के एक अन्त तथा विषय प्रहाण के दूसरे अन्त को नितान्त दुष्ट बताकर दोनों के बीच में प्रवाहित होनेवाले मध्यम मार्ग को ही मानव कल्याण का साधक बताया है। बुद्ध के द्वारा उन्मीलित तत्व सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि आदि अष्टांगिक मार्ग का पूर्व परिचय प्रथम अध्याय में दिया जा चुका है।

सब्ब पापस्सं अकरणं कुशलस्य उपसम्पदा ।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।।

अर्थात् समस्त पापों को न करना, पुण्य का संचय अपने चित की शुद्धि यही बुद्ध के प्रमुख आदेश हैं । तत्वज्ञान विषयक प्रश्नों के उत्तर देने में बुद्ध मौन हैं । इसका मतलब यह नहीं कि बुद्ध को तद्विषयक ज्ञाना भाव था अपितु उन्होंने उसको व्यर्थ माना है । फलतः क्लेश बहुल संसार के प्राणी को आचार मार्ग का अनुशीलन कर अपना परम कल्याण सम्पादन करना ही अभीष्ट है । इस विषय में एक बहुत सुन्दर उदाहरण जातकों में मिलता है। एक बार श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर मालूक्यपूत्त ने बुद्ध से लोक के शाश्वत, अशाश्वत, अन्तवान, अनन्त होने के तथा जीव और शरीर की भिन्नता, अभिन्नता आदि के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा, परन्तु बुद्ध के आचार मार्ग के लिए वैराग्य, उपसम, अभिज्ञा सम्बोध तथा निर्वाण के उत्पन्न करने में साधक न होने से उन प्रश्नों कों अब्याकृत बतलाया और कहा कि यदि कोई व्यक्ति विषदग्ध वाण से आहत होकर कराह रहा हो और बन्धु ब्रान्धव चिकित्सा के लिए किसी विषवैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हों तो क्या उस रोगी के लिए वैद्य के नाम गोत्र, रुप, रंग आदि की जानकारी के लिए आग्रह करना पहले दर्जे की मूर्खता नहीं है ? भवरोग के रोगी प्राणियों की दशा भी ठीक ऐसी ही है ।उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना हैं । उन्हें तो कर्त्तव्य मार्ग की रुप रेखा को जानना ही काफी है । कर्त्तव्य शास्त्र के निरुपण के लिए ही उन्होंने आर्यसत्यों के रुप में चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

प्रथम आर्यसत्य दुःख है । लौकिक अनुभव कहता है कि जगतीतल पर दुःख की सत्ता इतनी ठोस, स्थूल है कि उसका अपलाप नहीं किया जा सकता । दूसरा आर्यसत्य दुःख समुदाय है । इसे ही दुःखों का कारण भी कहते हैं। दुःखों के उदय के कारणों कीएक लम्बी श्रंखला है जिसे द्वादश निदान की संज्ञा दी गयी है । द्वादश निदानों के चक्र को भवचक्र या संसार चक्र कहा गया है । इसमें भी समस्त दुःख पुञ्जों का आदि कारण अविद्या को ही माना गया है । इस भवचक्र का सम्बन्ध भूत, वर्त्तमान, भविष्य तीनों जन्मों से है अतएव इसी भवचक्र का दुसरा नाम प्रतीत्यसमुत्पाद्य भी है जिसका अर्थ है प्रतीत्य अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर किसी समुत्पाद अर्थात् अन्य वस्तु की

उत्पति अर्थात् सापेक्षकारणता वाद । मनुष्य की उत्पत्ति शृंखलाबद्ध होती है, इस शृंखला के बारह अंग तथा तीन काण्ड हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार से है–

क—	अतीत जन्म से सम्बद्ध निदान	१ अविद्या
		२ संस्कार
		३ विज्ञान
ख—	वर्त्तमान जीवन से सम्बन्द्ध निदान	४ नाम रुप
		५ षड़ायतन
		६ स्पर्श
		७ वेदना
		८ तृष्णा
		९ उपादान
		१० भव
ग—	भविष्य जीवन से सम्बद्ध निदान	११ जाति
		१२ जरामरण

तृतीय आर्य सत्य दुःख निरोध या निर्वाण है। कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है इसलिए यदि कारण परम्परा का निरोध कर दिया जाय तो कार्य परम्परा अपने आप से चलनेवाली मशीन की तरह स्वतः अवरुद्ध हो जायेगी। मूल कारण अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर दिये जाने पर दुःख निरोध अवश्य हो जाता है। विद्या का उदय अष्टांग मार्ग के पालन से होता है और विद्या के उदय हो जाने पर निर्वाण की सद्यः प्राप्ति तथा अविद्या का स्वतः नाश हो जाता है।

आर्य सत्यों की समीक्षा करने से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि बुद्ध मार्ग उपनिषद प्रतिपादित मार्ग से एकान्तभिन्न नहीं है। उपनिषदों का ऋते-ज्ञानान्न मुक्तिः सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पति तब तक नहीं हो सकती जबतक उसके धारण करने का सामर्थ्य शरीर में न हो इसलिए ज्ञानोत्पत्ति के लिए शारीरिक शोधन पर विशेष बल दिया है। वैदिक दर्शनों की भांति बौद्ध धर्म में भी

शरीर शुद्धि के लिए तीन साधन पर जोर दिया गया है। इसे ही तृरत्न की संज्ञा दी गयी है शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील से समग्र सात्विक कर्मों का तात्पर्य है दीर्घ निकाय में पाँच शील-अहिंसा, अस्तेय. सत्य-भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना ये गृहस्थ तथा भिक्षु दोनों के लिए समान रूप से पालनीय है किन्तु भिक्षुओं के लिए वहीं पर अपराह्न भोजन, माला धारण, संगीत, सुवर्ण, रजत तथा महार्घ शय्या का त्याग ये पाँच शील और भी बताये गये हैं अर्थात भिक्षुओं के लिए दश शील का पालन करना पड़ता था। पंचशील द्वारा मनः शुद्धि के बाद साधक समाधि के योग्य होता था। समाधि के पालन से तीन प्रकार की विद्यायें उत्पन्न होती हैं पूर्व जन्म की स्मृति, जीव को उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त का बाधक विषयों की जानकारी। 'सामञ्च फलसूत्त' में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त सहित सुन्दर वर्णन मिलता है। समाधि के विषय में बौद्धों का कथन उपनिषदमूलक होने पर भी स्थल-स्थल पर अनेक नवीन महत्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण है।

प्रज्ञ तीन प्रकार की है—श्रुतमयी (आप्त प्रमाण जन्य निश्चय), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) तथा भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)। शील सम्पन्न श्रुति चिन्ता प्रज्ञ से युक्त पुरुष भावना ध्यान का अधिकारी होता है। राजा अजातशत्रु से श्रामाण्य के फलों की चर्चा करते समय बुद्ध ने प्रज्ञा के फलों का विशद् वर्णन किया है। प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान दर्शन मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्य श्रोत्र, परचित्त, ज्ञान पूर्वजन्म स्मरण, दिव्य चक्षु की उपलब्धि होने के अन्तर दुःखक्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्त कामाश्रव (भोगने की इच्छा), भवाश्रव (जन्म लेने की इच्छा) तथा अविद्याश्रव (अज्ञानमल) से सदा के लिए निर्मुक्त हो जाता है और साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। संक्षेप में बौद्ध दर्शन का यही स्वरुप है।

बुद्ध धर्म की आचार प्रधान शिक्षाओं के मूल में दो दार्शनिक सिद्धान्त प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं– संघातवाद और सन्तानवाद। संघातवाद को ही नैरात्मवाद भी कहा जाता है। इस मतवाले आत्मा की पृथक सत्ता को नहीं स्वीकार करते। सकल दुष्कर्मों तथा दुष्प्रवृत्तियों के मूल में इसी उपनिषद् प्रतिपादित आत्मवाद को कारण मानकर बुद्ध ने आत्मा जैसे एक पृथक पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार करते हुए मानसिक

अनुभव और विभिन्न प्रवृत्तियों के संघात रुप मानते है। आत्मा प्रत्यक्ष गोचर मानस प्रवृत्तियों का पुञ्ज मात्र है। इन प्रवृत्तियों के समूह के पुञ्ज के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता क्या कभी प्रत्यक्षरुप से दीख पड़ती है ? उसका सिद्धान्त आज कल के मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के समकक्ष है जो मानस दशाओं को मानकर भी तदेकीकरणात्मक आत्म पदार्थ को मानने के लिए तैयार नहीं है।

बौद्ध मत में यह आत्मा नाम रुपात्मक है। इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किए जाने के लिए जो अपने स्वरुप का निरुपण करते हैं उन पदार्थों को संज्ञा कहते हैं। वह वस्तु जिसमें भारीपन हो और जो स्थान घेरती है रुप कहलाती है। एतएव रुप से तात्पर्य जल, तेज तथा वायुचतुर्भूत तथा तज्जन्य शरीर से है जिसमें न तो भारीपन है और न तो जो स्थान घेरता हो ऐसे द्रव्य को नाम कहते हैं अर्थात् मन तथा मानिसक प्रवृत्तियाँ अतः नाम रुप का अर्थ हुआ शरीर और मन, शारीरिक कार्य तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ। आत्मा इस शरीर तथा मन भौतिक तथा मानसिक प्रवृतियों का एक समुच्चय मात्र है। रुप एक ही प्रकार का है पर नाम चार प्रकार का होता है-वेदना, संज्ञा, संस्सकार तथा विज्ञान। आत्मा, रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धों का पुञ्ज मात्र है। भूत तथा भौतिक पदार्थ (शरीर) को रुप किसी वस्तु के साक्षात् करने को संज्ञा, तज्जन्य दुःख-सुख तथा उदासोनता के भाव को वेदना, अतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृति को संस्कार तथा चैतन्य को विज्ञान के नाम से पुकारते हैं। बौद्ध धर्म के येही ५चस्कन्ध कहलाते हैं।

आत्मा के विषय में 'मिलिन्दपन्ह' में एक बड़ी सुन्दर कथा मिलती है। राजा मिलिन्द एकबार रथ पर सवार होकर बौद्ध भिक्षुक आचार्य नागसेन के पास गया और उनसे आत्मा क्या है ? यह प्रश्न किया। इस पर नागसेन ने उनसे पूछा की राजन् इस कड़कड़ाती धूप में जिस रथ पर सवार होकर इस स्थान पर पधारे हैं उसका सही सही वर्णन आप कर सकते हैं ? क्या आप बता सकते हैं कि रथ क्या है ? और कैसा होता है ? इस पर राजा ने अपनी स्वीकृति दी। फिर नागसेन ने उनसे पूछना शुरु किया कि क्या आप दण्ड को रथ कहते हैं या अक्ष को अथवा रस्सियों को या चक्के को या लगाम को या चाबुक को ? इनमें से कौन सा रथ है ? राजा बार बार अस्वीकार करता गया कि इनमें से कोई रथ नहीं। इन सबको तो

केवल अवयवों के आधार पर रथ का नाम दिया गया है। इन अवयवों को छोड़कर किसी अवयवी की सत्ता नहीं दीख पड़ती। तब नागसेन ने बताया कि ठीक यही दशा आत्मा की भी है। इन पंचस्कन्धों के अतिरिक्त अवयवी के नितान्त अगोचर होने के कारण अवयवों के आधार पर पंचस्कन्ध समुदाय का नाम आत्मा केवल व्यवहार के लिए ही दिया गया है। आत्मा की वास्तव सत्ता है ही नहीं। इस अज्ञान अवास्तव आत्मा के पारलौकिक सुखोत्पादन की इच्छा से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रपञ्च में पड़ने वाले लोग उसी प्रकार उपहास के पात्र एवं अनादरणीय होते हैं जिस प्रकार गुणवर्णादि को न जानने पर भी जनपद कल्याणी की कामना वाला पुरुष अथवा प्रासाद की सत्ता जाने बिना ही उसपर चढ़ने के लिए चौरास्ते पर सीढ़ी लगाने वाला व्यक्ति। संक्षेप में यही बौद्धों का संघातवाद या नैरात्मवाद है।

बौद्ध दर्शन न केवल आत्मा को अपितु जगत् को भी अनित्य मानता है। यह नाम रुपात्मक आत्मा जो पंचस्कन्ध से जाना जाता है दो क्षण तक भी समान रुप से स्थिर नहीं पाया जाता। इसमें कोई न कोई क्रिया निरन्तर चलती रहती है फलस्वरुप कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। जीव और जगत् भी परिणामशाली हैं। त्रिपिटकों में जलप्रवाह तथा दीप शिखा के उदाहरण से इसे ही समझाया गया है। ये लोग आत्मा और जगत् का अभेद सम्बन्ध भी नहीं स्वीकार करते। उदाहरण के लिए दीप और दीप शिखा को लेते है। दीप की बत्ती से प्रतिक्षण एक लौ का प्रस्फुरण होता है और वह अस्त हो जाती है तथा उसकी जगह दूसरी लौ ले लेती है। इस से प्रत्यक्षतः अभिन्नता भले प्रतीत होतीं हो किन्तु परमार्थतः नहीं है। इसी प्रकार दूध के विकारों का भी उल्लेख परिणामवाद की पुष्टि करता है दूध से दही, मक्खन और घी बनता है और इस प्रकार उसका रुप एक प्रवाह में प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस प्रवाह की दो अवस्थाओं में अति सूक्ष्म अन्तर होने से वह लक्षित नहीं होता। बौद्ध लोग पुनर्जन्म के सिद्धांत को भी मानते हैं। जन्मान्तर ग्रहण में यही प्रभाव जारी रहता है एक जन्म अन्तिम विज्ञान के अन्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है। वस्तु कि एकता तदाकार वस्तुओं की एकत्रीथी है। वास्तविक एकता जगत् । अलभ्य वस्तु है। बुद्ध के इस सिद्धांत में परस्पर दो विरोधी मतों का समन्वय किया गया है। इसमें सत्ता तथा असत्ता के बीच परिणाम को माना गया है। जगत् के सत्य-स्वरुप की अपेक्षा किए

बिना ही उसकी परिणामात्मक व्याख्या की गई है। परिणाम सत्य है पर किसी परिणामी पदार्थ का अस्तित्व सत्य नहीं है। इस मत को बौद्ध दर्शन में सन्तानवाद या परिणामवाद कहा जाता है।

दार्शनिक विकास :–यद्यपि महात्मा बुद्ध ने तत्वों के विश्लेषण को अनिर्वचनीय तथा अव्याकृत बताकर व्यर्थ के चिन्तन से अपने को मुक्त रखा फिर भी उनकी शिष्य-परम्परा दार्शनिक होड़ में इन तत्वों पर विचार करने के मोह को संवरण नहीं कर सकी और बुद्ध के उपदेशों के तह में पहुँचकर विशेष सूक्ष्म सिद्धान्तों को ढूँढ निकाला। इस प्रकर धर्म एक ओर धरा रह गया और दर्शन या तत्वज्ञान बुद्ध मत में प्रधान हो गया। आगे चलकर बुद्ध की शिष्य परम्परा भी दर्शन क ादृष्टि से चार भागों में बँट गई। ये चार मत हैं– माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें माध्यमिक सर्वशून्य वादी योगाचार वाले वाह्यार्थ शून्यवादी, सौत्रान्तिक बाह्यार्थ अनुमेय वादी तथा वैभाषिक बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी हैं। इन मतों के स्वरुप को संक्षिप्त रुप से समझें बिना बुद्ध के दर्शन को समझा नहीं जा सकता।

माध्यमिक :— यह मत ई० की द्वितीय शताब्दी में नागार्जुन द्वारा प्रवर्तित है। माध्यमिक कारिका के अनुसार संसार असत् या शून्य है। माध्यमिक लोग न तो वाह्यार्थ को मानते हैं और न विज्ञान को ही। यह शून्य शब्द कोई अभाववादी नहीं है अपितु एक अनिर्वचनीय तत्व का बोधक है जो न सत् है न असत् है न सद्सत है और न इन दोनों से सर्वथा पृथक है। चारों कोटियों से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण ही हम इसे शून्य का नाम देते हैं। माध्यमिक मत में द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी स्वप्न के समान भ्रम है। व्यावहारिक वस्तुएँ सभी शून्य या असत् हैं किन्तु उनकी पृष्टभूमि में ा क ऐसी सत्ता है जो अनौं पाधिक और अधिकृत है। इस विषय में माध्यमिक कारिका में हा गया है कि—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्वं माध्यमिका विदुः

योगाचार :— योगचार के प्रमुख प्रवर्तक दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और असङ्ग आदि आचार्य हैं। ये लोग वाह्य जगत् को सत्ता को शून्य तो मानते हैं किन्तु आभ्यन्तर जगत में एक सत् तत्व को भी मानते हैं। इनके अनुसार इस सत् तत्व-ज्ञाता का अभाव

मानने पर हमारा ज्ञान भी असत् हो जाएगा। मन के द्वारा गृहीत सभी पदार्थ धारणा मात्र है। मानसिक धारणायें ही वाह्य वस्तुओं के रुप में भ्रमवत दृष्टिगोचर होती है। विषयी ही वाह्य वस्तुओं पर अपनी तत्सम्बन्धी धारणाओं का आरोपण करता है। इस प्रकार यह मत एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान या शुद्ध चैतन्य की एक मात्र सत्ता को मानने के कारण विज्ञानवादी भी है। इन्होंने आठ भागों में विज्ञान को बांटकर अष्ट धातु या विज्ञान के रुप में अध्ययन किया है। चित्त मन तथा विज्ञप्ति इनके मत में एक ही विज्ञान के पर्याय हैं। चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण यह चित्त और मनन क्रिया से वही मन है। तथा विषयों के ग्रहण करने में कारण होने से वही विज्ञांन या विज्ञप्ति भी है।

सौत्रान्तिक:– उपर माध्यमिक और योगाचर का संक्षिप्त परिचय दिया गया। ये दोनों ही महायान शाखा के यान हैं। सौत्रान्तिक मत हीनयान शाखा का है। उनके अनुसार मानसिक पदार्थ और बाह्य पदार्थ दोनों ही सत् हैं। यद्यपि बाह्य पदार्थो का ज्ञान अनुमान से होता है। उनके प्रत्यक्ष के लिए विषय, चित्त, इन्द्रियाँ तथा सहायक तत्व इन चार वस्तुओं की अपेक्षा है। इनके परस्पर मिलने से मन में उत्पन्न होने वाले विषय का विचार या अनुकृति प्राप्त होती है। इस प्रकार बाह्य वस्तुएं मन में रहने वाली विषय के विचारो के प्रतिनिधि मात्र हैं। मानसिक धारणाओं से ही मन बाह्य पदार्थों का अनुमान कर लेता है। ये लोग केवल वर्त्तमान काल की सत्ता को मानते हैं तथा बाहरी पदर्थों की सत्ता प्रत्यक्ष से सिद्ध न होकर चित द्वारा अनुमानित मानते हैं। इनका मत पाश्चात्य विद्वान 'लाक' के विचारों की अनुमति के सिद्धान्त से मिलता है।

वैभाषिक :— वैभाषिक लोग बाह्य पदार्थ की सत्ता तथा आभ्यान्तर धर्मो की सत्ता को अनुमेय न मानकर पूर्णतः प्रत्यक्ष ही मानते हैं। अनुमान की आवश्यकता नहीं समझते। इनका कहना है कि जबतक व्यक्ति को पहले से अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा वह कभी धुम के अधार पर उसका अनुमान नहीं कर सकता। बाह्य पदार्थों से सम्पर्क नहीं रहने पर मनोजगत् में कभी भी बाहरी वस्तु की धारणा नहीं बन सकती। अतः जिस जगत् का अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा हो रहा है उसकी बाह्य सत्ता अवश्य ही है। हमारे भीतर चित्त की भी सत्ता स्वतन्त्र रुप से है एवं बाहरी पदार्थों की सत्ता को मानने के लिए चित्त की अपेक्षा नहीं रहती।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हीं चार सम्मुदायों का अपने ग्रन्थ में गरम मत तथा नरम मत के रुप में ऐतिहासिक विकाश क्रम वर्णित किया है। श्री माध्वाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में भी इन्हीं चार मतों का विवेचन किया हैं। वर्गी करण करते हुए इन्होंने लिखा है कि -

यद्यपि भगवान बुद्धः एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इत्युक्ते जारचौरानूचानादयः स्वेष्टानुसारेणाभिसरणपरस्वहरणसदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते। सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं, दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्य शून्यमिति भावनाचतुष्टयमुपदिष्टं द्रष्टव्यम।

अर्थात् यद्यपि बौद्ध दर्शन को समझनेवाले भगवान बुद्ध एक ही थे फिर भी समझनेवाले पात्रों अर्थात् शिष्यों में बुद्धि भेद होने से चार वर्ग बन गया जिस प्रकार सूर्य डूब गया ऐसा कहने पर जार, चोर, वेदपाठी आदि अपनी अपनी इच्छा केअनुसार संकेताभिगमन, परधनहरण और सदाचरण आदि अर्थ लेते हैं उसी प्रकार बुद्ध के उपदेशों का इन चारों मतों के प्रवर्तकों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ लगाया।

माध्वाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में बौद्धों के चार भावनाओं का भी उल्लेख किया है। ये चार भावनायें क्रमशः सबकुछ क्षणिक है, सब कुछ दुःख हैं, सबों का लक्षण अपने आप में है और सबकुछ शून्य है। उपरः के चारों सम्प्रदाय इन्हीं मतों को मानते हैं। अत्र माध्वाचार्यजी सर्वप्रथम बौद्धों के क्षणिक वाद की विवेचना करते हुए कहते हैं कि क्षणिकत्व स्वयंसिद्ध है। इसको अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है, जिस प्रकार नीले आकाश में नील आदि क्षणों की सत्ता देखकर आकाश के नीलापन का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार अन्यत्र भी ग्रहण करना चाहिए। जिसकी सत्ता है वह क्षणिक है जैसे- मेघमण्डल। इन भावों की सत्ता है इसलिए ये भाव भी क्षणिक होंगे। अनुमान से हेतु असिद्ध है ऐसा नहीं कहा जासता क्योंकि असिद्ध हेतु उसे कहते हैं जो व्यवहारतः असङ्गत कारण हो। साध्य की तरह ही उसे भी सिद्ध करने की आवश्कता पड़े। नीलाकाश में अनुमान के लिए नील हेतु को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। असिद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि सत्व में प्रयोजनमूलक कार्य करने की क्षमता रहती है। कोई भी काम किसी उद्देश्य या अर्थ से किया जाता है। उक्त प्रकार के कार्य करने की शक्ति जब रहे तभी सत् होता है। यह सत्व नीलादि क्षणिक पदार्थों के प्रत्यक्ष से ही

सिद्ध होता है। इस प्रकार सत्व का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व नील में व्याप्त होने के कारण नील की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है। नील आदि पदार्थ क्षण भर में अपनी अर्थ साधक क्रिया क'के नष्ट हो जाते हैं इसलिए इनकी संज्ञा क्षण भी है। अतः उपर के अनुमान में भावों का सत् होना असिद्ध नहीं हुआ। भावों के असिद्ध न होने और क्षणिक के सत् होने में दूसरा कारण यह है कि व्यापक का निष्कासन करने से व्याप्य का भी निष्कासन हो जाता है। व्यापक में नहीं रहने वाले वस्तु व्याप्य में भी नहीं रहती। इस नियम के द्वारा व्यापक पदार्थ से क्रम और अक्रम का व्यावर्तन करने से क्षणिक होनेवाली वस्तुओं से सत्ता निष्कासन भी सिद्ध होता है। किन्तु क्षणिक सत् है क्योंकि अक्षणिक से सत् व्यावृत होता है इससे यत् सत् तत्क्षणिकं सिद्ध होता है और उपर्युक्त अनुमान हेतु के ठीक रहने से उचित प्रतीत होता है। यह सार्थक कार्य करने की शक्ति क्रम तथा अक्रम से व्याप्त है। क्रम तथा अक्रम के बीच तीसरा विकल्प नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर विकट असंगति हो जाएगी। जैसा कि न्याय कुसुमाञ्जली में कहा गया है कि परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तर स्थितिः नैकतापि विरुद्धानाम उक्तिमात्र विरोधतः॥

(कुसु० ३-८)

अर्थात् आपस में विरोधी पदार्थों के बीच किसी तीसरे प्रकार विकल्प की सत्ता नहीं हो सकती। वचन में ही विरोध होने के कारण विरुद्ध पदार्थों में कभी एकता भी नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि क्रम और अक्रम परस्पर विरोधी है फिर भी इनके बीच में किसी तीसरे विकल्प की आशंका नहीं है जो अर्थ क्रियाकारित्व को व्याप्त कर सके। किसी वस्तु की सत्ता या तो आगे पीछे करके क्रमिक होगी या अक्रमिक अर्थात् एक साथ ही होगी। अर्थमूलक क्रिया की शक्ति केवल क्षणिक में ही है। ये क्रम और अक्रम स्थायी पदार्थ से पृथक होकर अर्थ क्रिया को भी स्थायी पदार्थ से पृथक कर देते हैं तथा क्षणिकत्व के पक्ष में ही सत्ता होने की व्यवस्था करते हैं।

अर्थक्रियाकारित अदिकत्व में ही सम्भव है यदि सत्ता स्थायी होती तो क्रम और अक्रम भी नही होता। पदार्थों की एक कालिकता भी नहीं होगी क्योंकि सत्ता के खण्ड नही होंगे इसलिए स्थायी क्रम और अक्रम दोनों स्थितियों में भिन्न है। इस प्रकार माध्वाचार्य जी ने निष्कर्ष देते हुए निम्न उद्धरण और प्रमाण प्रस्तुत किया है :—

तस्माद्विपक्षे क्रमयौगपद्य व्यावृत्या, व्यापकानुलम्भेन अधिगतव्यतिरेकव्याप्तिक,

प्रसङ्ग तद्विपर्ययवलाद् गृहीतान्वयव्याप्तिकं च सत्वं क्षणिकत्व पक्ष एव व्यवस्थास्यतीति सिद्धम् । तदुक्तं ज्ञानश्रिया -

यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भाव अमी
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धान सा ।
नात्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्
द्वेधापिक्षणभङ्गासंगतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥

संसार के क्षणिकता को सिद्ध कर लेने के बाद अन्य दुःख और स्वलक्षण की भावनाओं का भी उल्लेख मात्र किया है । इनके मत में यह संसार दुःखात्मक है, इसे आस्तिक और नास्तिक दोनों मानते हैं क्योंकि इसको माने बिना लोगों में दुःख से निवृत्त होने के उपायों के प्रति प्रवृत्ति कैसे होगी ? किन्तु लोक में ऐसा देखा जाता है इसलिए संसार में सब कुछ दुःख है यह बौद्ध लोगों का मानना भी उचित ही है । स्वलक्षण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यदि कोई पूछता है कि दुःख कैसा है ? किसी तरह है ? तो यही कहा जाएगा कि ऐसी बात यहां नहीं है । किसी साधारण लक्षण या समान लक्षण के अभाव में यह कहना सम्भव नहीं है कि इसके समान यह दूसरा है । सभी पदार्थों का अपना लक्षण है । बौद्ध लोग सामान्य को नहीं मानते जिससे उन क्षणिक पदार्थों को भी किसी समान धर्म द्वारा लक्षण का विषय बना कर साधारण लक्षण दे सकें । वस्तुओं के स्वलक्षण होने के कारण दो पदार्थों में सादृश्य नहीं दिखलाया जा सकता । इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण दिया है—

एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
साधारणं रुपमवेक्षते यः शृंङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥

अन्त में बौद्ध मत के आखिरी भाव शून्यवाद का भी माधवाचार्य ने विश्लेषण किया है । माध्यमिक सम्प्रदायवाले यह मानते हैं कि सबकुछ शून्य है । इसमें एक विशेष प्रकार का निषेध पाया जाता है जो त्रिविधात्मक निषेध होता है । इसमें दर्शन क्रिया, द्रष्टा-कर्त्ता और दृश्यकर्म तीनों का निषेध होता है । दूसरे रुप में धर्मी-धर्म और सम्बन्ध इनका भी निषेध हो जाता है । इसके लिए सीपी और रजत का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । इनका कहना है कि धर्मी सीपी है, उसका धर्म इद रजत में इदं का आधार रजतत्व है । दोनों के निषेध से रजतत्व के समान ही शुक्ति आदि

का भी निषेध हो जाता है जिससे शून्यवाद को सहायता मिलती है। इसलिए आरोपित वस्तु रजतत्व के अधिष्ठान अर्थात् आधार, उनके सन्बन्ध, दर्शन क्रिया और द्रष्टा के बीच एक के या अनेक के असत् होने से निषेध का विषय होकर सबों की असत्ता आ जाती है ऐसा माध्यमिकों का मानना है। यह शून्य चार कोटियों से नितान्त मुक्त है– सत्, असत् उभयात्मक और अनुभयात्मक और अनुभयात्मक। माध्यमिकों का यह सिद्धान्त अद्वैत वेदान्तियों के अद्वैतत्व से मिलता है और माया का स्वरुप वर्णन करने के प्रसङ्ग में आचार्य शंकर ने भी इसका उपयोग किया है जिसके कारण विरोधियों ने उन्हें प्रच्छन्नबौद्ध कह दिया है।

बौद्ध मत के चार सम्प्रदायों एवं उनकी मान्यताओं का उपर सक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। सबका लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति करना ही और ज्ञानोदय करना है। पंचस्कन्धों के ज्ञान हो जाने के बाद निर्वाण की प्राप्ति होती है। भगवान बुद्ध ने इसे ही अपने शब्दों में व्यक्त किया है। उन्होंने कहा कि यह सारा पंचस्कन्धात्मक संसार दु ख है, दुःख का घर है और दुःख का साधन है अर्थात् यहीं से दुःख मिलता है। इसका ज्ञान करने के उपरान्त ही उससे बचने के उपाय तत्वज्ञान का साधन करना चाहिए। इसलिए कहा गया है कि दुःखः समुदाय, निरोध तथा मार्ग से ही भगवान बुद्ध के मान्य तत्व हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि बुद्ध ने दार्शनिक प्रश्नों का विवेचन न करके सीधे आर्य सत्यों का ही उपदेश किया। सारनाथ में दिया गया उनका प्रथम उपदेश अब भी द्रष्टव्य है। उनका कथन है कि संसार में लोग दा ण व्यथा से सन्तप्त हैं। उन्हें बचाने का उपाय न करके दार्शनिक गुत्थियों जैसे अ त्मा, ईश्वर, कार्य कारण आदि को सुलझाना मूर्खता है। जैसे किसी को बाण लग जाय तो उसे निकालकर मरहम पट्टी करनी चाहिए न कि यह पता लगाते फिरें कि बाण किसने फेंका– क्षत्रियने या ब्राह्मण ने ? वह किस पर बैठा था। वह किस रंग का था ? आदि। आदि। बुद्ध ने वास्तव में कोई दर्शन नहीं दिया। उन्होंने केवल आचारशास्त्र या आचार संहिता बनाया। आर्य सत्रों मे सिद्धान्त और व्यवह र का अनुपम समन्वय है। दुःख का विचार कर लेने पर समुदाय को भी जनना आवश्यक है। समुदाय के विषय में माध्वाचार्य का कथन है कि—

समुदायो दुःखकारणम्। त द् द्विविधं–प्रत्योनिबन्धनो हेतूपनिबन्धनश्च। तत्र

प्रत्ययोपनिबन्धनस्य संग्राहकं सूत्रम्–"इदं प्रत्ययफलं" इति। इदं कार्यं ये अन्ये हेतवः प्रत्ययन्ति गच्छन्ति, तेषामवमानानां हेतूनां भावः प्रत्ययत्वं कारणसमवायः, तन्मात्रस्यफलं न चेतनस्य कस्यचिदिति सूत्रार्थः।

अर्थात् समुदाय का अर्थ है– दुःख का कारण। यह दो प्रकार का होता है–प्रत्यय पर आधारित और हेतु पर आधारित इसमें प्रत्यय पर आधारित दुःख कारण को समझाने वाला सूत्र है- यह कार्य-समूह, प्रत्यय, कारण-समवाय का ही परिणाम है। इस कार्य के उत्पादन की ओर जो दूसरे हेतु जाते हैं, कार्य उत्पन्न करते हैं उस जाने वाले दूसरे कारणों के साथ मिलनेवाले, कारणों का भाव ही प्रत्यय है जिसे कारण समवाय भी कह सकते हैं। यह समूचा कार्य उन प्रत्ययों का हीं फल है किसी चेतन का नहीं। आशय यह है कि कारणों के समूह के स्वभाव से ही कार्य की उत्पत्ति होना प्रत्ययोपनिबन्धन समुदाय है। अंकुर को उत्पन्न करने में मिट्टी, जल बीज आदि कारण हैं। कोई चेतन सत्ता इन पदार्थों में नहीं हैं। न तो मिट्टी ही चेतन है और न अंकुर ही। चेतन सत्ता के अभाव में केवल कारणों से कार्य होता है। हेतूपनिबन्धन में भी चेतन सत्ता नहीं रहती। यहाँ क्रमिक कार्य होता है। अंकूर से कांड, कांड से नाल, नाल से गर्भ आदि। न तो अंकूर ही समझता है कि मैं उत्पन्न कर रहा हूं न कांड ही अपने को उत्पादित समझता है। सृष्टि प्रक्रिया को समझाते हुए आगे लिखते हैं कि यथा बीज हेतु रङ्कुरो धातूनां कारणां समावायाज्जायते। तत्र पृथिवी धातुरङ्कुरस्यकाठिन्यं गन्धं च जनयति। अब्धातुः स्नेहं रसं च जनयति। तेजोधातू रूपमौष्ण्यंच। वायुधातुः स्पर्शनं चलनं च। आकाशधातुरवकाशं शब्दंच ऋतुधातुर्यथायोगं पृथिव्यादिकम्।

हेतूपनिबन्धन–समुदाय को समझाने के लिए 'अभिधम्म' में उत्पादात्वा अनुपप्पादात् वा सूत्र दिया गया है। तथागतों, बुद्धों के मत के अनुसार इन धर्मों, कार्य-कारण की धर्मता (कार्य-कारण होना) उत्पत्ति (अन्वय), तथा अनुत्पत्ति (व्यतिरेक) से सिद्ध हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि कार्य-कारण के रुप में जो धर्म है उसकी धर्मता, प्रकृति, कार्य-कारण के भाव के रुप में है यह उत्पाद और अनुत्पाद से सिद्ध हो गई है। जिसके रहने पर जिसकी उत्पत्ति होती है और जिसके न रहने पर जो उत्पन्न नहीं होता वह उस कारण का कार्य है। धर्मताशब्द को धर्मस्थितिता अर्थात् धर्म या कार्य के कारण का उल्लंघन न करके स्थिर रहना अर्थात् धर्म नियामकता या कार्य का कारण के बिना

न रहना और कारण का कार्य पर नियन्त्रण रखना। यहाँ पर कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि कार्य-कारण का सम्बन्ध किसी चेतन की सत्ता के हस्तक्षप किये बिना संभव नहीं है। यह मत नैयायिकों का है जो ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए ऐसे अनुमान का आश्रय लेते हैं। बौद्धों का सिद्धान्त है कि न तो बीज को अपने कारणत्व का ज्ञान है न अङ्कुर को ही अपने कारणत्व का। कारण अपने कार्य के आगे पीछे रहता है इसलिए उसमें चेतन का अभाव है। जिनमें कार्य-कारण भाव है उनमें चैतन्य नहीं पाते और जिन ईश्वरादि में चैतन्य है उसे कार्य करते नहीं देखते।

जिस प्रकार लौकिक उदाहरण में दो कारणों को माना गया है उसी प्रकार आध्यात्मिक वस्तुओं का भी मानना चाहिए। यहाँ भी प्रत्ययोपनिबन्धन कार्य की उत्पत्ति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और विज्ञान इन छः धातुओं के समवाय से होता है। अध्यात्मिक वस्तुओं का हेतूपनिबन्धन कारण ही भवचक्र कहलाता है। इसे ही विशेषतया प्रतीत्यसमुत्पाद्य कहते हैं। इनकी संख्या बारह कही गयी है जिसे द्वादशायतन कहा गया है। बौद्ध लोग दुःख का कारण कहते हैं यथा– क्षणिक वस्तुओं को स्थिर समझना या तत्वों को न जानता ही अविद्या है। इसी के कारण पूर्व जन्म में भला बुरा करने का सस्कार होता है। ये दोनों कारणपूर्वजन्म से सम्बद्ध हैं। संस्कार के कारण ही इस जन्म में प्राणी गर्भ में आता है तथा विज्ञान या चैतन्य पाता है। इसके फलस्वरुप शारिरीक और मानसिक नाम रुप अवस्थायें उसे मिलती हैं। नामरुप के कारण ही षड़ायतन मिलता है जिसके कारण जातक बाह्य पदार्थों का स्पर्श करता है। स्पर्श के कारण उसे सुख दुःख तथा उदासीनता की त्रिविध वेदना होती है। पदार्थों की तृष्णा से विषयों की आसक्ति या उपादन होता है और उसी से भव अर्थात् नया जन्म होता है जो पूर्वजन्म के संस्कार के समान ही है। भव के कारण भविष्य में जन्म लेना अनिवार्य है। अतः जरामरण का चक्र भी अनिवार्य है। यही दुःख के कारणों की श्रृंखला है। इसलिए भगवान बुद्ध ने इन दोनों प्रकार के कारणों के निरोध के लिए उपदेश किया। कारणों के निरोध या विमल ज्ञान के समुदय होने से मुक्ति होती है। दुःख को रोकने का उपाय ही मार्ग है और वह मार्ग है तत्वों को जानना। वह तत्वज्ञान प्राचीन भावनाओं के ही कारण होता है। सर्वदर्शन संग्रह में माध्वाचार्य ने बौद्ध दर्शन का उपसंहार करते हुए विवेक विलास का उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें पद्यबद्ध

सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन को प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान के लिए उसे वहीं से उद्धृत किया जाता है—

विवेकविलासे बौद्धमतमित्यभ्यधायि—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणमङ्गुरम्।
आर्यसत्याख्यया तत्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ॥
दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः ।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः ॥
दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रुपमेव च ॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु ॥
रागादीनां गणो यस्मात्सपुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥
प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा ।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते ।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संगता ।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥
रागादिज्ञानसंतान वासनोच्छेदसंभवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥
कृतिः कमण्डलुमौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् ।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥

(सर्वदर्शन संग्रह)

अर्थात् बौद्धों के मत में सुगति ही देवता हैं। यह संसार क्षणभंगुर है । उनके

द्वारा दिये गये उपदेश ही आर्य सत्य हैं जो तत्वचतुष्टय के नाम से विख्यात हैं। यह संसार दु:ख का आयतन है। इसी से समस्त दुखों का समुदय होता है। उसका ज्ञान ही दु:ख निरोध का मार्ग है। दु:ख समुदाय पञ्चस्कन्धात्मक हैं। ये पञ्च-स्कन्ध विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रुप हैं। इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाली पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इसके अतिरिक्त पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन तथा धर्म का आयतन बुद्धि को मिला कर बारह आयतन माना गया है। इन्हीं से मनुष्यों के हृदय में रागादि समूहों की उत्पत्ति होती है। यह अपना स्वभाव रुप ही होता है और आत्मा कहलाता है। यही समुदय है। सभी संस्कार क्षणिक है इस प्रकार का जो विचार उत्पन्न होता है उसे ही मार्ग या मोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण ही चारों प्रकार के बौद्धों को मान्य है।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन का मूल-तत्व दु:ख और दु:ख का विनाश करना ही है। दु:ख विनाश के बाद निर्वाण या मुक्ति मिलती है। निर्वाण के स्वरुप के विषय में बौद्ध शाखाओं की कल्पनायें नितान्त भिन्न हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय का एक अपना अलग विशिष्ट मत है। निर्वाण भावरुप में है या अभावरुप में इस मत को लेकर बौद्ध दर्शन में पर्याप्त मीमांसा की गयी है। हीनयानमतानुयायी अपने को तीन प्रकार के दु:खों से पीड़ित मानता है दु:ख दु:खता अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणों से होने वाला क्लेश, संस्कार दु:खता अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशाली जगत् की वस्तुओं से उत्पन्न होने वाला क्लेश और परिणाम दु:खता अर्थात् सुख को दु:ख रुप में परिणत होने के कारण उत्पन्न होने वाला क्लेश। मनुष्य को इन क्लेशों से कभी छुटकारा नहीं मिलता चाहे वह कामधातु अथवा अरुपधातु में ही जीवन क्यों न व्यतीत करता हो। इस दु:ख से छुटकारा, आर्यसत्य का अनुशीलन, अष्टांगिक मार्ग का पालन तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा को न मानने से ही होता है यही मुक्ति का मार्ग है। आर्य सत्य के ज्ञान से और सदाचार के अनुष्ठान से हीनयान के अनुसार साधक क्लेशों से मुक्ति पा सकता है यही निर्वाण है।

महायान सम्प्रदायवाले हीनयान के निर्वाण के स्वरुप में दु:खा भाव रुप विशेषण पर अपत्ति है। महायानी निर्वाण को सत्य, नित्य, पवित्र और सुख रुप मानता है। हीनयान में भिक्षु जब अर्हत की दशा प्राप्त कर लेता है तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता

है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जब भिक्षु जगत् के अनन्पत प्राणियों के साथ अपना विभेद नही कर सकता, उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है उसमें सब प्राणियों के एकत्व की भावना जागृत हो उठती है। वह अष्टांगिक मार्ग के सेवन से अपने दुःखों से मुक्ति पा लेता है। उसे पञ्चस्कन्धजन्य दुःख सताते नहीं है बल्कि जगत् के दुःखों का पर्यंवसान हो जाता हैं। यही हीनयानी जीवन्मुक्ति की दशा है। महायानी का आदर्श बोधिसत्व म नव है जो जगत् के उपकार में लगा हुआ है। उनके लिए निर्वाण पूर्ण आनन्द की अवस्था है। हीनयान में निर्वाण को निषेधात्मक माना गया है जबकि महायान में निर्वाण सत्तारुप होता है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि वौद्ध मत ने अन्य दर्शनों से भी प्रभाव ग्रहण किया है या प्रभावित किया है। हीनयानी विर्वाण न्याय, सांख्य आदि दर्शनों द्वारा सम्मत मोक्ष के समान है जबकि महायानी निर्वाण वेदान्तमुक्ति का समकक्ष है। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है और वेदान्त अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि में प्रकृति और पुरुष को एक मानने से अज्ञान उत्पन्न होता है जबकि वेदान्त की दृष्टि में एक तत्व को अनेक समझना ही अज्ञान है। सांख्य की प्रक्रिया के अनुसार समाधि के द्वारा बाध्य जगत् के पदार्थों पर ध्यान लगाने से सब विषय धीरे धीरे छँट जाते हैं तथा अस्मिता में उनका अवसान हो जाता है। अस्मिता विषयी और विषय के परस्पर मिश्रण का सूचक है। अस्मि में दो अंग है- अस्+मि। अस्=सत्व या प्रकृति तथा मि=उत्तम पुरुष=चेतन। अस्मि पुरुष नहीं है क्योंकि उसमें सत्व अंश नहीं है और वह प्रकृति भी नहीं है क्योंकि जड़ होने से वह चेतन पुरुष नहीं हो सकती इसलिए वह मिश्रण है प्रकृति पुरुष का और विषय-विषयी का। इतना ज्ञान हो जाने के बाद पुरुष को प्रकृति से हटाने का प्रयत्न आरम्भ होता है। प्रकृति तथा पुरुष के पृथकत्व ज्ञान को विवेकख्याति कहते हैं जो साँख्य काचरम लक्ष्य है। योगसूत्र के अनुसार सात भूमियां हैं जिनको क्रमशः पार करता हुआ पुरुष सत्व से पृथक होकर अपने स्वरुप में स्थित हो जाता है। सत्व स्वयं अन्धकारमय है प्ररन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब से वह भासमान होता है। विवेक ख्याति द्वारा उसपर पड़नेवाला पुरुष का प्रतिबिम्ब हट है तब सत्व जड़ अन्धारमय हो जाता है। पुरुष को स्वरुप में स्थिति लाभ करना ही सांख्य की मुक्ति है। इसमें प्रकृति अवश्य रहती है परन्तु पुरुष से उसका लगाव नहीं रहता।

वेदान्ति मुक्ति की कल्पना इससे भी आगे बढ़कर करते हैं। इसमें प्रकृति या माया का कोई भी स्थान नहीं होता। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ और माया असत्य पदार्थ है। संसार में अन्त में ब्रह्म की ही केवल सत्ता रहती है और उस समय उसके सच्चिदानन्द रुप का भान होता है। इस प्रकार वेदान्त की मुक्ति आनन्दरुपिणी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हीन यानीजहाँ क्लेशावरण का क्षय ही मुक्ति मानते हैं वहाँ सांख्य और न्याय दुःखत्रयाभिघात को मुक्ति मानते हैं। हीनयानी भी दुःख त्रय को मानते हैं। अतः दोनों मत एक सदृश हैं। महायानी निर्वाण वेदान्त की मुक्ति के तुल्य हैं।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में बौद्ध दर्शन का उपसंहार करते हुए इसे उपनिषदों पर आधारित या उपजीव्य कहा है। इतना होते हुए भी बौद्धों के क्षणिकवाद, अनातमता विज्ञान तथा शून्य की वास्तविकता के सिद्धांत परस्पर घोर विरोधी सिद्धान्त हैं जिनका सभी ब्राह्मण एवं जैन दार्शनिकों ने अपनी प्रौढ़ युक्तियों के अनुसार खण्डन प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम प्रहार क्षणभंगवाद पर ही किया गया है।



षष्ठ अध्याय

बौद्ध दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त का समन्वयात्मक अध्ययन

पिछले अध्यायों में बौद्ध दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन के स्वरूप, उद्भव एवं विकास की पर्याप्त चर्चा की गयी है। दोनों ही दर्शनों का मूल स्रोत उपनिषद् हैं। उपनिषदों में मानव जीवन एवं संसार तथा दुःख और दुःख निवृत्ति के उपाय आदि का वर्णन सांगोपांग मिलता है। विभिन्न दार्शनिक मतावलम्बियों ने अपने-अपने मत के अनुसार इन उपनिषद्-वाक्यों का व्याख्यान किया है। इस दृष्टि से बौद्ध दर्शन सर्व-प्रथम विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर सामने आता है।

प्रायः सभी दार्शनिक इस मत से सहमत हैं कि दुःख ही समस्त क्लेशों का जनक है अतएव इसके विनाश के लिए प्रयत्न होते हैं। इसके विनाश पर ही पूर्ण सुख या मुक्ति सम्भव है। दुःख के त्याग की इच्छा एवं सुख-प्राप्ति की इच्छा से व्यक्ति कारणों के अन्वेषण में प्रवृत्त होता है। दुःख के कारणों के ज्ञान के बाद ही उसका विनाश सम्भव है। कारण विनाश होने पर कार्यरूप दुःख का विनाश भी स्वतः हो जाता है। उसके लिए अलग से प्रयास की आवश्कता नहीं होती। बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही दर्शन मिथ्यां-ज्ञान अथवा अविद्या को दुःख का कारण मानते हैं। बौद्ध दर्शन में मिथ्या ज्ञान के कारणों की परम्परा में द्वादश निदानों की कलपना की है। ये द्वादश निदान हैं:—जरा-मरण, जाति, भव, उत्पादन, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षड़ायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार और अविद्या। इसमें पहले के प्रति पर अर्थात् उससे आगेवाले कारण बन जाता है जैसे– जरा-मरण का कारण जाति या जन्म लेना है। जाति का कारण भव अर्थात् पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म हैं। भव को उत्पन्न करने वाले कारण उपादान है। उपादान अनेक प्रकार के होते हैं यथा कामोपादान, शीलोपादान और आत्मोपादान। उपादान या आसक्ति तृष्णा के कारण पैदा होता है और तृष्णा बाह्यार्थानुभव के बिना नहीं उत्पन्न हो सकती अतएव इन्द्रियजन्यानुभूति वेदना तृष्णा की जननी है। वेदना या इन्द्रियजन्य अनुभूति, स्पर्श से ही सम्भव है अर्थात् विषय का इन्द्रियों से सम्पर्क होने से

वेदना होती है। इन्द्रियों की संख्या (ज्ञानेन्द्रियाँ) पांच मानी गयी है। मन को लेकर बौद्ध दर्शन छः इन्द्रियाँ मानता है। इन्हें ही षणायतन कहा गया है। स्पर्श का संयोग इन्हीं षड़ायतनों से होता है जो नामरुपात्मक हैं। नामरुप की सत्ता विज्ञान या चैतन्य पर आधारित है। यह विज्ञान पूर्वजन्म के कर्म और उनके अनुभवों से उत्पन्न संस्कार रुप अज्ञान से उत्पन्न होता है। इस प्रकार बौद्ध मत में दुःख का चरम कारण अविद्य ही माना गया है।

आचार्य शंकर ने भी अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्यमें सर्वप्रथम अविद्या को नैसर्गिक और सभी अनर्थों का कारण माना है। इसे ही माया भी कहा गया है। माया अथवा अविद्या अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। मिथ्या माया से प्रोद्भासित या विक्षिप्त जगत के नानात्व से पारमार्थिक अद्वैत की सिद्धि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पारमार्थिक तत्व एक ब्रह्म ही है, अन्य सभी प्रातिभासिक या व्यवाहारिक हैं जिनकी वास्तविक सत्ता नहीं होती, वे प्रतीति मात्र जीवित हैं।

यद्यपि दुःख के कारण स्वरुप मिथ्या ज्ञान अथवा अविद्या को मानने से बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त में विचार साम्य प्रतीत होता है किन्तु दोनों के व्याख्यान में महान अन्तर है। बौद्ध का कहना है कि मूलतत्व का स्वरुप शून्य है। भ्रम के कारण उसमें तरह तरह की वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। वास्तव में सब कुछ मिथ्या ही है लेकिन बौद्ध मत के चारों सम्प्रदाय उस मिथ्या ज्ञान के विवेचन में एक मत नहीं दिखाई देते। जहाँ विज्ञानवादी वाह्य पदार्थ एवं आत्म तत्व दोनों को ही क्षणिक एवं आभास मात्र मानता हैं तथा असत्य मानता है वहाँ शून्यवादी माध्यमिक प्रत्यक्ष सम्बन्धी भ्रम को त्यागकर विचार सम्बन्धी भ्रम को ही लेते है। आचार्य शंकर इस भ्रम को अनिर्वचनीय कहते हैं और इनके ज्ञान को अध्यास कहते हैं। भ्रम में एक वस्तु के गुणों को अथवा एक वस्तु को दूसरे पर आरोपित कर देना ही अध्यास कहलाता है। यह अध्यास ही दुखों का कारण है। यही सब प्रकार के लौकिक प्रमाण, प्रमेय, व्यवहार तथा सभी शास्त्रों का आधार है। यही शंका करना कि प्रत्यक्षादि प्रमाण और श्रुति प्रमाण अविद्याजन्य कैसे हो सकते हैं, निराधार है क्योंकि 'अहं' भाव की विद्यमानता में ही सभी व्यवहार सम्भव हैं। बिना 'अहं' प्रत्यय के न इन्द्रियाँ काम करती हैं और न शरीर ही काम कर सकता है इसलिए आत्मा के विषय में शरीर, इन्द्रिय, अहंकार

आदि की प्रतीति व्यवहार के लिए आवश्यक है और बिना परमातृ रुप अध्यास के प्रमाण प्रमेय व्यवहार नहीं हो सकता। इस अध्यास का नाश आत्मविद्या द्वारा जो कि उपनिषदों से प्राप्त होती है आवश्यक है। सभी उपनिषदों का उपदेश आत्मैकत्व प्रतिपादित करना है।

यद्यपि आत्म-तत्व या अहं-तत्व की व्याख्या बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों में की गयी है किन्तु दोनों में मतैक्य नहीं है। जहाँ बौद्ध लोग आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते वहाँ अद्वैतवादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके चलता है। बौद्ध मत के अनुसार आत्मा जैसा कोई नित्य चेतन ज्ञान स्वरुप तत्व के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ संघातमय हैं और संघात के बिखर जाने पर उनकी सत्ता का अभाव हो जाता है जिन ईच्छा, द्वेषादि प्रयोजनों के लिए आत्मा को अन्य दर्शनों में माना है उसे बौद्ध दर्शन में पंचस्कन्ध के द्वारा सिद्ध माना जाता है। बौद्धों के चार सम्प्रदायों में सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिक सांख्य मत के अधिक करीब हैं जबकि योगाचार और माध्यमिक बिल्कुल भिन्न हैं। योगाचार मतवाले बाह्य भौतिक जगत् को मिथ्या मानते हैं और चित्त को सत् पदार्थ स्वीकार करते हैं लेकिन माध्यमिक लोग संसार को भी असत्य मानते हैं और विज्ञान वादियों द्वारा मान्य चित्त को भी असत्य मानते हैं। उनके मन में समस्त जगत् की सत्ता प्रातिभासिक है। केवल शून्य ही पारमार्थिक सत्य है। वे लोग चेतन की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि सारा कार्य, कार्य-कारण भाव सम्बन्ध से होता है। इसमें न तो कार्य ही चेतन होता है और न कारण ही नहीं को कोई दूसरी चेतन शक्ति इनकी सहायता करती है। इसलिए अंकुरादि कार्य केवल कारणों के मेल से ही बनते हैं। इनमें पृथ्वी अकुर में कठोरता और गंध उत्पन्न करती है। जलतत्व चिकनाहट और रस तेज तत्व रुप और उष्णता, वायुतत्व स्पर्श और गति, तथा आकाश शब्द और स्थान की पूर्ति करता है। ऋतु योग्यता के अनुसार पृथ्वि आदि तत्वों को प्रदान करता है। बुद्ध मत में जो कार्य-कारण के रुप में धर्म है उसकी धर्मता या प्रकृति कार्य कारण के भाव के रुप में है जो अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुकूलता से सारा काम चलता है।

किन्तु अद्वैत वेदान्ती सर्वं प्रथम ब्रह्म जिज्ञासा के आरम्भ से पूर्व ही आत्म सिद्धि

करना आवश्यक समझता है। इसी लिए उसने सभी मतों में अनात्मवाद को खण्डित करते हुए आत्मवाद की प्रतिष्ठा की है। यह आत्म-तत्व अहं शब्द वाच्य नहीं है अपितु उससे भिन्न है, निरुपाधिक है और ब्रह्मरुप निष्ठ है। निरुपाधि जीव या आत्मा ब्रह्म ही है जिसे छान्दोग्यो में सदेव सौम्येदमग्र आसीत् (छा० उप०- ६—२—१) तथा एतदात्म्यमिदं सर्वतत् सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छा० उप० ६–८—१६) यहाँ पर विज्ञानवादी बौद्धों के विज्ञानतत्व को ही आत्मा मान लेने पर भी अद्वैत वेदान्त की आत्मा से भिन्नता सिद्ध होती है क्योंकि विज्ञानवादी आत्मा की प्रतीति भी 'अहं' के रुप में ही होती है। यहाँ 'अहं' देहादि के आकार में रहता है। ऐसी स्थितिमें जीवात्मा का प्रादेशिक होना या स्थूल होना, सबकुछ सिद्ध हो जाएगा किन्तु यह आत्मा का वस्तुत: स्वरुप नहीं, अपितु एक अध्यास मात्र ही है क्योंकि विज्ञान क्षण भर में ही नष्ट हो जानेवाला है, इसलिए विज्ञान रुप आत्मा भी नश्वर है। अत: वह भी वास्तविक न होकर अध्यास मात्र ही है किन्तु अद्वैत वेदान्त में आत्मा नित्य एवं ब्रह्म स्वरुप है इसलिए विज्ञान आत्मा नहीं है। विवाद का उपसंहार करते हुए माध्वाचार्य अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह में कहते हैं कि उपनिषदों को आधार मानकर चलनेवाले सभी मतों में आत्मा या जीवात्मा चित् के रुप में कर्तृत्वादि विशेषणों से सहित तथा परमात्मा से अभिन्न धर्मी रुप में प्रसिद्ध है। परन्तु उसके विशेषणों (गुणों) को लेकर विवाद है। इसलिए आत्मा के विशेष के विषय में संशय होना युक्ति संगत ही है।

दु:ख एवं दु:ख के स्वरुप तथा दु:ख के उपभोक्ता आत्मा एवं उसके ब्रह्मस्वरुप का विवेचन करने के उपरान्त दु:ख विनाश के उपायों पर भी बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्तियों के मत को जानना आवश्यक है। बौद्ध लोग आचार को मुख्य मानते हैं। महात्मा बुद्ध ने मानव स्वभाव की कमजोरियों को समझकर के एक ऐसे मार्ग का उपदेश किया जो परम कल्याण का साधक एवं ज्ञान का उत्पादक है। महात्मा बुद्ध केवल आचार और केवल अध्यात्म ज्ञान दोनों को ही एकान्तिक मानते थे, इसलिए उन्होंने बीच के मार्ग को अपनाने का उपदेश किया। ज्ञान के साथ आचार का समन्वय करने के लिए त्रिरत्न की कल्पना की गयी है। ज्ञानोपलब्धि से पूर्व विद्यमान कुत्सित भावनाओं को मिटाना आवश्यक होता है इसके लिए शील प्रथम सोपान है। शील से तात्पर्य ऐसे व्यवहार से है जिससे मनुष्य दुष्कर्मों से बचा रह सके। उपर कहा गया है कि तृष्णा ही समस्त

पाप कर्मों का मूल है और शीलाचरण द्वारा तृष्णाजन्य कर्मों का नाश होता है। इसके अभ्यास से ही समस्त क्लेश दूर हो सकते हैं। सम्यक् शील का अभ्यास कर लेने के बाद ही व्यक्ति अगले सोपान समाधि की ओर बढ़ता है। शील के अन्तर्गत बुद्ध ने सामान्य गृहस्थों के लिए पांच व्यवहारों का निर्देश किया है। वे हैं— अहिंसा, अस्तेय सत्य-भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना। भिक्षुओं के लिए इन पांच शीलों के अतिरिक्त अन्य पाँच शीलों का भी उपदेश है। वे हैं– अपराह्न भोजन, माला धारण संगीत, सुवर्ण-रजत् तथा महार्घं शय्या का त्याग। इस प्रकार भिक्षुओं को दशशीलों का उपदेश है। इनका पालन करते हुए ही व्यक्ति साधना की ओर बढ़ता है।

साधना का दूसरा सोपान समाधि है। समाधि से साधक को तीन प्रकार का ज्ञान होता है। प्रथम- पूर्वजन्म की स्मृति, द्वितीय-जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा तीसरा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी। समाधि के विषय में बौद्धों का कथन उपनिषद्मूलक होने पर भी स्थल-स्थल पर अनेक नवीन महत्वपूर्ण सूचनाओं से एवं परिवर्तनों से परिपूर्ण है। समाधि की सिद्धि अष्टांगिक मार्ग के पालन से होती है। समाधि की पूर्णता से प्रज्ञा का जागरण होता है और प्रज्ञा के उदय से निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है।

बौद्ध धर्म में प्रज्ञा तीन प्रकार की मानी गयी है — श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी। शील का पालन करने मे व्यक्ति आप्तप्रमाणजन्य निश्चय बोध रुपी प्रज्ञा तथा युक्ति द्वारा उत्पन्न निश्चय बोध रुपी प्रज्ञा से युक्त होकर के साधक भावनामयी प्रज्ञा का अधिकारी होता है। भावनामयी प्रज्ञा के जागरण से ज्ञान-दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्य श्रोत, परचित्त ज्ञान, पूर्वजन्मस्मरण, दिब्य चक्षु की उपलब्धि तथा अन्त में दुःख का ज्ञान हो जाता है और चित्त भोगने की ईच्छा जन्मने की ईच्छा तथा अज्ञान जनित मल से सदा के लिए मुक्त हो जाता है और साधक निर्वाण की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अद्वैत वेदान्त में आचार को ज्ञान के अधीन माना गया है। यहाँ मुख्य विषय ज्ञान-प्राप्ति से ही साधक मुक्त हो सकता है। ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया शंकराचार्य ने बड़े ही रोचक ढ़ग से प्रस्तुत की है। उनके अनुसार पहले शिष्य में वेदान्त ज्ञान की क्षमता साधन--चतुष्ट्य सम्पन्नता का होना आवश्क है। साधन चतुष्ट्य सम्पन्नता से सम्पन्न

शिष्य ही वेदान्त श्रवण का अधिकारी होता है। ऐसा शिष्य ही गुरु से ब्रह्मज्ञान या आत्मविषयक ज्ञान का प्रश्न करता है। गुरु शिष्य को सर्वप्रथम अध्यारोप और अपवाद विधि से ब्रह्म का उपदेश करता है। इस विधि से शिष्य को आत्मा या ब्रह्म के यथार्थ रुप का ठीक ज्ञान हो जाता है। इस विधि का अनुकरण आजकल अनेक विज्ञानों में देखा जा रहा है।

शिष्य को ब्रह्मज्ञान हो जाने के उपरान्त गुरु तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का उपदेश करता है।गुरोपदेश के अनन्तर वाक्यार्थ का मनन तथा ध्यान,धारणा का अनुष्ठान आवश्यक होता है। आत्म-दर्शन में श्रवण, मनन और निदिध्यासन को हीं साधन माना गया है। श्रवणोपरान्त युक्ति तथा तर्क के द्वारा स्वयं मनन और चिन्तन करना अपेक्षित होता है तभी आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व का पूर्णज्ञान तथा सच्चा बोध होता है। जीव ब्रह्मैक्य की सिद्धि हो जाने पर अर्थात् तत् त्वमसि के ज्ञानके उपरान्त साधक को यह अनुभव होने लगता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस साधन के बल पर जीव और ब्रह्म का भेद-भाव मिट जाता है। साधक को भ्रम का विनाश एवं मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अद्वैत वेदान्त में मुक्ति दो प्रकार की मानी गयी है। एक तो जीवन्मुक्त और दूसरा विदेहमुक्त। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के फलस्वरुप जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार का मोक्ष प्राप्त करनेवाला पुरुष शरीर से नष्ट नहीं होता क्योंकि शरीर प्रारब्ध कर्मों का फल होता हैं और वह जारी रहता है लेकिन मुक्त व्यक्ति ज्ञानोदय के पश्चाद् संसार के प्रपञ्च में नहीं पड़ा रहता। न मोह उसे सताता है न शोक उसे अभी-भूत करता है ऐसे पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं:— संचित, संचीयमान और प्रारब्ध। तत्व ज्ञान के द्वारा संचित और संचीयमान कर्मों का ही नाश होता है, प्रारब्ध कर्मों का नहीं। इसलिए प्रारब्ध कर्म का भोग के द्वारा उपसम होने पर्यन्त मुक्त को भी संसार में रहना पड़ता हैं और जरा-मरण के क्लेश को भोगना पड़ता है। प्रारब्ध कर्मों के नाश के साथ ही पूर्ण मुक्ति या विदेह मुक्ति साधक को प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही दर्शनों में आचार एवं ज्ञान दोनों को सामानरुप से महत्व दिया गया है। जहाँ बौद्ध लोग अष्टांगिक मार्ग का उपदेश करते हैं वही अद्वैत वेदान्ती भी मुक्ति प्राप्ति के लिए आठ अंगों का निर्देश करता है। ये आठ

अंग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। बुद्ध के पंचशील के सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त के यम और नियम में समाहित हैं। उनके अन्य अंग या मार्ग भी इन्हीं अष्टांग में समाहित हो जाते हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए समाधि को दोनों ही मत मानते हैं तथा समाधि की सिद्धि के लिए श्रवण मनन एवं चिन्तन पर दोनों ही मत समान रुप से बल देता है।

ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्ति हो सकती है यह सिद्धान्त बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही मतों में सामान्य रुप से स्वीकार है। उसे बौद्ध भी मानते हैं और अद्वैत वेदान्त भी। यही नहीं प्रायः सभी आस्तिक दर्शन इसे मानते हैं किन्तु इस तत्वज्ञान के स्वरुप एवं साधनों के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद है। बौद्ध मत वाले जहाँ मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं एवं आचार तथा ज्ञान दोनों की महत्ता को स्वीकार करते है वहाँ अद्वैत वेदान्ती आचार को तत्वज्ञान साधना में साधन या उपादान मानता है निमित नहीं। साधनचतुष्ट्य की आवश्यकता पर दोनों ही बल देते हैं। इससे साधक में तत्वज्ञान की क्षमता जागृत होती है। बुद्ध ने साधक में तत्वज्ञान की क्षमता उत्पन्न करने के लिए केवल शील को साधन बताया है जबकि अद्वैत वेदान्त में नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षा इन चार साधनों को साधक में होना आवश्यक माना है। आचार्य शंकर ने निष्काम कर्मानुष्ठान द्वारा चित्त-शुद्धि की आवश्यकता बल दिया है। वहाँ उनके ही शिष्य सुरेश्वराचार्य चित्तशुद्धि के लिए शुद्ध आचरणपर ही बल दियाहै। उनका कथन है कि –

नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेः पापहानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः संसारयाथार्थ्याववोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षुत्वम्। (नैष्कर्म्य सिद्धि सुरेश्वराचार्य)

अर्थात् नित्यकर्म के सम्यक् अनुष्ठान से धर्म भावना की उत्पत्ति होती है जिससे पापकर्मों के विनाश होने से अशुभकर्मों के प्रति आशक्ति का नाश होता है और चित्त शुद्धि हो जाती है। चित्त शुद्ध होने पर संसार का यथार्थ तत्वावबोध होता है तथा तत्वावबोध के पश्चात् साधक के चित में वैराग्य तथा कर्म सन्यास के लिए अपूर्व-शक्ति उत्पन्न होती है। तदनन्तर वह योगाभ्यास एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अनुष्ठान में आसक्त हो जाता है जिससे चित्त प्रत्यगात्मा में स्वतः स्थिर हो जाता है। अवहित चित्त आत्मा ही तत् त्वमसि आदि महावाक्यों का अर्थावबोध करने के पश्चाद् अविद्या

के नाश की स्थिति के वाद अपने स्वरुप में स्थित हो जाता है और उसे 'अहं ब्रह्मस्मि' स्वरुप अखण्डबोध प्राप्त हो जाता है। यही ब्रह्मातमैक्य मोक्ष है।

इस प्रकार बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही दर्शनों में आचरण द्वारा एवं नित्य नैतिक कर्मो के अनुष्ठान द्वारा चित्त कि शुद्धि पर वल दिया गया है। यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि न तो बौद्ध दर्शन न ही अद्वैत वेदान्त, कोई भी दर्शन साधक को ससार से अलग होने का उपदेश करता है, अपितुकर्मों का सम्यक्रुप से पालन करते हुए ही मुक्ति की ओर अग्रसर होने का उपदेश करता है।

बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों दर्शनों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान्य है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार कर्म-फल का भोग जीव को अवश्य भोगना पड़ता है। यह जरा और मरण रुप फल भी कर्मनुसार मिलताहै। जीव को पुनः पुनः प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए तबतक जन्म लेना पड़ता है जबतक समस्त कर्मों का ऐकान्तिक विनाश नहीं हो जाता। किन्तु यहाँ पर दोनों में मतभेद भी है। जहाँ अद्वैत वेदान्त पुनर्जन्म की सिद्धि आत्मा को नित्य मानकर करता है वहाँ बौद्ध दर्शन में पञ्चस्कन्धों के द्वारा स्वीकार किया गया है।

बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही दर्शनों में संसार की सत्ता को अनित्य एवं मिथ्या माना गया है। बौद्ध लोग इसे भवचक्र या संघात मानते हैं जबकि अद्वैत वेदान्ती इसे अध्यास एवं भ्रममूलक मानते हुए सत्य या मिथ्या सत्य मानते हैं। समस्त क्लेशों को देने वाला यह जगत् या संसार ही है। जगत् की उत्पत्ति में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध को बौद्ध लोग स्वीकार करते हैं जबकि अद्वैत वेदान्ती जगत् की सृष्टि विवर्त्त से मानते हैं। माध्यमिक लोग सबकुछ को चतुष्कोटि शून्य में मानते हैं। शकराचार्य ने भी जगत् को कोटित्रयशून्य और माया का विवर्त्त या विकार कहा है। इस प्रकार जगत् के सम्बन्ध में भी दोनों मतों में पर्याप्त समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

अद्वैत वेदान्त में जिसे जीव या आत्मा की संज्ञा दी गयी है उसे ही बौद्ध दर्शन में चित्त की संज्ञा दी गयी है। दुःखों की अनुभूति या दुःखनाश की अनुभूति वस्तवामें इस चित्त या जीव को ही होता है। बन्ध या मुक्ति भी इस चित्त या जीव को ही प्रतीत होता है। बौद्ध लोग साकार चित्त को ही ज्ञान कहते हैं और साकार चित्त ज्ञान प्राप्ति में आलम्बन का कार्य करता है। इसमें आकार को ग्रहण करने की शक्ति होती

है जो परिवर्तन के साथ साथ नूतन आकार को ग्रहण कर लेता है। इसे ही संतानवाद भी कहा गया है। यह सत् पदार्थ है। इसमें उपचार वश सांसारिकता का भान होता है। विज्ञानवादी दो प्रकार के उपचार को मानते हैं– आत्मोपचार तथा धर्मोपचार। जीव, जन्तु आत्मा, मनुष्य आदि ये आत्मोपचार हैं तथा स्कन्द, धातु आयतन, रुप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आदि धर्मोपचार हैं। विज्ञानवादी आत्मा तथा धर्म को विज्ञान का ही विभिन्न परिणाम मानता है। समस्त जगत् चित्त का परिणाम मात्र होने से अष्ट भेदों के अन्तर्भूत माना जाता है। अद्वैत वेदान्ती भी संसार को भ्रमात्मक एवं विवर्त्तस्वरुप मानता है तथा जीव को अज्ञान की व्यष्टि सं युक्त या अवच्छिन्न ब्रह्मस्वरुप माना है। इसे ही शारीर, आत्मा आदि शब्दों से भी पुकारा गया है। उपाधि भेद के कारण जीवों से ज्ञान आदि गुण आजाते हैं एवं वह भी ज्ञाताकर्त्ता एवं भोक्ता हो जाता है।

इतना होते हुए भी दोनों मतों में जमीन आसमान का अन्तर है सर्वप्रथम अद्वैत वेदान्तियों को बौद्धों के क्षणिकवाद पर ही आपत्ति है क्योंकि जगत् के समस्त पदार्थों को क्षणिक मानने से व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकती। कर्मफल के क्षणिक होने पर मोक्ष की प्राप्ति भी सुतरां असम्भव प्रतीत होती है। इसी लिए हेमचंद्र ने बौद्धों को महा-साहसिक कहा है। जयन्त भट्ट ने अपनी न्याय-मञ्जरी में बौद्धों को महादम्भी सिद्ध किया है। इसी प्रकार उनके दूसरे सिद्धान्त विज्ञानवाद का भी शंकराचर्य ने खण्डन किया है। विज्ञानवादी बाह्यार्थं का अभाव मानते हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्ती बाह्य पदार्थ का अपलाप नहीं करते क्योंकि घट, पटादि की अनुभूति सर्वजन प्रसिद्ध है। बाह्य पदार्थ विज्ञानात्मक होने पर भी बहिर्वत् प्रतीत होता है इस कथन से भी बाह्यार्थं की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। जागृत जगत् को भी स्वप्नवत् मायिक बताना तथ्य से बहुत दूर है क्योंकि स्वप्न में अनुभूत पदार्थं का जागरण काल में बाध हो जाता है। स्वप्न दर्शन स्मृति रुप है और जागृत दर्शन उपलब्धि रुप है। ऐसी दशा में संसार की स्वप्न जगत् के सामान कल्पना कोरी कल्पना ही हैं। बौद्धों का तृतीय मत शून्यवाद भी अद्वैत वेदान्तियों के लिए मान्य नहीं है। शून्यवादी सबकुछ भ्रम ही मानते हैं और तत्वरुप में शून्य ही शेष मानते हैं। इनके मत में वृत्ति की दृष्टि से कार्य-करण भ्रम है और शून्य तत्व की दृष्टि से न कोई कार्यं है न कारण अपितु कार्य-कारण सम्बन्ध ही

नहीं है। अतः कोई वस्तुतः न सत् है न असत् है न सद्सत् है न सद्सत् से भिन्न है। इसे ही आचार्य शंकर ने 'शून्यमित्यपरे' कहकर भाष्य किया है।

सर्व प्रथम आत्मा के विषय में प्रश्न उठता है। बौद्ध लोग आत्मा तत्व का बहिष्कार करते हैं और वे शून्य को ही तत्वरुप में स्वीकार करते हैं किन्तु शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा है औंर सभी को आत्मा की प्रतीति होती है। यदि आत्मा की प्रतीति न होती है तो 'मैं हूँ' का बोध भी नहीं होता। बौद्ध लोग देह को विनश्वर समझ कर उससे भिन्न सूक्ष्म इन्द्रियों को ही चेतन और आत्मा कहते हैं और समझते हैं। एक एक देह में अनेकानेक इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हो सकती ऐसा समझ कर इन्द्रियों के स्वामी मन को कुछ बौद्ध आत्मा कहते हैं। कुछ क्षणिक विज्ञानमात्र को ही आत्मा कहते हैं। माध्यमिकों के मत में सुषुप्ति काल में बुद्धि का भी अभाव हो जाता है इसलिए सदा स्थायी शून्य ही आत्मा है। इस प्रकार विचार किए बिना विरुद्ध सिद्धान्तों में किसी असत् सिद्धान्त को माननेवाला मोक्ष मार्ग से भटक सकता है और अनर्थ को प्राप्त होगा। इसलिए अद्वैत वेदान्ती आत्मा को ब्रह्मस्वरुप, सत्यस्वरुप मानकर चलते हैं। वे इसे संघातरुप नहीं मानते क्योंकि अचेतन परमाणु और पंचस्कन्धों का अपने आप में समुदाय होना असम्भव है। बौद्ध लोग चुँकि समुदायों से भिन्न किसी कूटस्थ आत्मा में विश्वास नहीं करते तथा परमाणु और स्कन्ध दोनों ही अचेतन हैं अतः समुदाय की उत्पत्ति या निर्माण असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु औंर स्कन्ध स्वयं अपने स्वभाव के कारण सक्रिय होते हैं तो उनकी यह सक्रियता उन्हें नित्य बना देगी और ऐसी दशा में निर्वाण का भी अभाव हो जाएगा। इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष की उत्पत्ति हो जाएगी।

अद्वैत वेदान्त वैभाषिकों के वाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद एवं संघात वाद से इसलिए भी सहमत नहीं है क्योंकि वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों यह मानते हैं कि संघात की उत्पत्ति अविद्या आदि समुदाय के परस्पर निमित नैमित्तिक भाव, कार्य-कारण रुप से आवर्तमान होने से संघात उत्पन्न हो जाता है किन्तु अद्वैत वेदान्ती का मत है कि अविद्या, संस्कार आदि का कारण नहीं हो सकती। केवल पूर्व-पूर्व, उत्तरोत्तर का निमित्त होता है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान नाम, रुप की श्रेणी स्वतः संघात पर निर्भर है वह उसका कारण नहीं हो सकती। संघात को मानने में अद्वैत वेदान्तियों

को एक आपत्ति यह भी है कि द्वादश निदान से आवति और संघात एक साथ होगा तो समान होगा या असमान। यदि समान होता है तो इसका अर्थ होगा कि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता और असमान होता है तो यह मानना पड़ेगा कि उसमें पाप पुण्य का विचार किए बिना ही परिवर्त्तन हो जाता है।

अद्वैत वेदान्तियों को बौद्धों के उत्पत्ति के सिद्धान्तों से भी मतभेद है। इनका कहना है कि बौद्ध लोग अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति और संस्कार से विज्ञान की उत्पत्ति में हेतु के अधीन कार्योत्पत्ति मानते हैं तथा पृथ्वी आदि समुदाय से शरीर आदि उत्पन्न होता है। इसमें समुदाय के अधीन कार्योत्पत्ति मानी गयी है। यहाँ शंकराचार्य उत्तरोत्पादेच पूर्वनिरोधात् सूत्र से दोनों प्रकार की कार्योत्पत्तियों को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि दो क्षणिक वस्तुओं के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। चूँकि बौद्धों का सिद्धान्त क्षणिक है और उसमें प्रत्येक पदार्थ अपना कार्य करके स्वयं नष्ट हो जाता है तो प्रश्न होता है कि यदि द्वितीय कार्य क्षण की उत्पत्ति के पहले ही प्रथम कारण क्षण नष्ट हो जाता है तो वह द्वितीय कार्य क्षण को किस प्रकार उत्पन्न करता है ? इस प्रकार कार्य-कारण भाव सम्बन्ध ही नहीं बनेगा। पुन: कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो भी प्रतिज्ञा का बोध होगा। यदि कार्य पर्यन्त कारण की स्थिति मान ली जाय तो ऐसी दशा में कार्य-कारण युगपत् हो जाएँगे और क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा ही नष्ट हो जाएगी। अत: क्षणिकत्ववाद में कार्य की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं क्योंकि बुद्धि से बोध्य सप्रमेय पदार्थ तीन तुच्छ से अन्य संस्कृत अर्थात् उत्पाद्य कार्य स्वरूप हैं और क्षणिक हैं। ये तीन तुच्छ–प्रतिसंख्या, अप्रतिसंख्या और आकाश रुप हैं। ये तीनों ही अवस्तु और अभाव मात्र हैं। बुद्धि पूर्वक भावों के विनाश का प्रति संख्या निरोध नाम कहते हैं, अर्थात् मैं इस सत् वर्तमान वस्तु को असत् नष्ट कर दूँ ऐसी भाव की विरोधी बुद्धि को प्रति संख्या कहते हैं और उस बुद्धि से होनेवाले नाश को प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं। उसके विपरीत अबुद्धिपूर्वक नाश अप्रतिसंख्या निरोध है। आवरण का अभाव मात्र ही आकाश है। इनों प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या + निरोध ये दोनों ही अप्राप्त हैं क्योंकि भाव का नाश नहीं हो सकता। भाव का नाश न होने से ये दोनों प्रतिरोध नहीं हो सकते। इसमें हेतु फल भाव का प्रवाह संतान है उसमें संतानी

हेतु फल भाव को नाश से ही संतान का नाश हो सकता है परन्तु संतानी का नाश नहीं हो सकता क्योंकि बौद्ध मत में अर्थ क्रियाकारित्व ही सत्व है। जो संतानी किसी को उत्पन्न किये बिना नष्ट होगा उससे उसकी असत्ता ही प्राप्त होगी अतः सिद्ध होता है कि संतानी संतान को प्रकट किए बिना नष्ट नहीं होता। अतः उसका विच्छेद भी नहीं हो सकता। यदि दोनों निरोध को भाव गोचर माने तो भी सम्भव नहीं है क्योंकि भावों का निरन्वय निरुपाक्ष बिना सम्भव नहीं है क्योंकि मृत्तिका के नाश से मृत्तिका सम्वन्धी घर की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए कारण का निरन्वय नाश अत्यन्त अभाव नहीं होता। जहाँ कहीं बीजांकुरादि अवस्थाओं में कारण की कार्य में स्पष्ट प्रत्यभिज्ञ नहीं होते हैं वहाँ कहीं देखे गए अन्वयी कारण के विच्छेद से अनुमान द्वारा यह विच्छेद समझा जाता है। इससे अन्य से परिकल्पित दोनों निरोधों की अनुपपत्ति होती है। पुनः प्रतिसंख्या निरोध मान्य नहीं है इसलिए कि इसमें यह स्पष्ट नहीं कि अविद्यादि का निरोध यम, नियमादिरुप परिकर सम्यक् ज्ञान से होता है अथवा स्वयं होता है। यदि साधन सामग्री सहित सम्यक् ज्ञान से मानते हैं तो निरहेतुक विनाश के स्वीकार की हानि का प्रसङ्ग होगा और यदि स्वतः सम्भव विनाश या निरोध मानें तो ऐसी हालत में साधना आदि अष्टांगिक मार्ग के उपदेश की व्यर्थता सिद्ध हो जाएगी। इस प्रकार से दोनों प्रकार से यह प्रसङ्ग अनुपयुक्त है।

आकाशतत्व को निरुपाख्य कहना भी अयुक्ति संगत है क्योंकि प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध में वस्तुत्व का प्रतीति के समान आकाश में भी वस्तुत्व की प्रतीति की अविशेषता है सो उचित प्रतीत होता क्योंकि आत्मनः आकाशः सम्भूतः इत्यादि तैतिरीय उपानिषद् में कहा गया है। इससे आकाश की वस्तुत्व की प्रसिद्धि प्राप्त होती है। आगम की प्रमाणता में विरोधियों को शब्दरुप गुण से अनुमान के योग्य आकाश को कहना होगा क्योंकि गन्धादि गुणों को पृथिव्यादि वस्तु के आश्रितत्व देखा जाता है। वैसे ही शब्द जिसके आश्रित हैं वह आकाश वस्तु है अवस्तु निरुपाख्य नहीं है। गुण होने से शब्द निराश्रय नहीं है। श्रोत्रग्राह्य होने से वह पृथ्वी आदि का गुण नहीं है। इसी प्रकार जो आवरण का अभाव मात्र आकाश को मानते हैं उनके मत में एक पक्षी के आकाश में उड़ने पर उससे आवरण की वर्तमानता से उड़ने इच्छा वाले दूसरे पक्षी को अनवकाशता की प्राप्ति होगी अर्थात् मूर्त्त द्रष्टव्य शून्यता को निरावरण कहा

जाता है। एक पक्षी के उड़ने पर मूर्त्त द्रष्टव्य शून्यता के अभाव से मानो आकाश का ही अभाव हो गया। दूसरे पक्षी को उड़ने के लिए अवकाश नहीं मिलेगा। यदि यह कहा जाय कि जहाँ आवरण का अभाव है वहाँ दूसरा पक्षी उड़ेगा तो जिस देश विशेष का आवरण के अभाव रुप विशेषण से कथन किया जाता है वही वस्तु स्वरुप आकाश सिद्ध हो जाएगा कि जिसमें पक्षी के उड़ने पर भी आवरण का अभाव रहता है। आवरणाभाव का अधिकरण आवरणभाव मात्र नहीं हो सकता। इस तरह आकाश को आवरणाभाव मात्र मानने वाले सौगत को अपने अभ्युपगम से भी विरोध प्राप्त होगा।

इसी प्रकार शंकराचार्य कहते हैं कि बौद्ध लोग आत्मा को भी क्षणिक मानते हैं सो उचित नहीं है क्योंकि वह अनुभव कर्त्ता है और यदि वह क्षणिक होगा तो स्मृति का भी अभाव हो जाएगा क्योंकि स्मृति या अनुस्मृति उपलब्धि के अनन्तर ही होती है। स्मृति के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्मा और स्मरण करने वाली आत्मा समान हो। सम्वेदन, प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यक्ष व स्मरण के क्षण एक ही आत्मा से सम्बन्धित होने चाहिए। यह तभी सम्भव है जब आत्मा क्षणिक न होकर नित्य और शाश्वत हो। लोक में पुरुषान्तर के द्वारा उपलब्ध विषय का अन्य पुरुष की स्मृति नहीं देखी जाती। इस प्रकार उन्हें भी दर्शन, स्मरण सा कर्त्ता एक ही आत्मा को मानना पड़ेगा। इससे उनके क्षणिकत्व के सिद्धान्त की हानि अवश्य होगी।

वैभाषिकों (शंकराचार्य के मत में वैनाशिकों) का सिद्धान्त इस कारण से भी अनुपपन्न है कि वे अभाव से ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इसके लिए उदाहरण देते हैं कि बीज के नष्ट होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है तथा विनष्ट मृत पिण्ड से ही घट उत्पन्न होता है। इस पर शंकराचार्य कहते हैं कि यदि अभाव से ही कार्य की उत्पत्ति मान ली जाय तो किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट कारणों की क्या आवश्यकता होगी ? अभाव के भीतर कार्य करने की क्षमता कभी भी नहीं हो सकती। ऐसा यदि मानें तो उदासीन चेष्टारहित जनों से भी अभिमत कार्यों की सिद्धि हो जाएगी। खेत में प्रयत्न न करने वाले किसान को भी बिना खेती किए ही अन्न मिलने लगेगा और कुम्हार को बिना मृत्तिका संस्कार किए ही घटादि पात्र निर्मित मिलने लगेंगे। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष के लिए भी किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना होगा। अतः उपर्युक्त सभी कारणों से बौद्ध मत का सर्वास्तिवाद का सिद्धान्त

अनुपयुक्त है।

बौद्ध मत के सर्वास्तिवाद का खण्डन करने के पश्चात् शंकराचार्य विज्ञानवादी एव् योगाचारवादी बौद्धों से अपना मतभेद स्थापित करते हैं। उनका कहना है कि विज्ञानवादियों का बाह्य अर्थ का अभाव कहना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि बाह्य अर्थ का अभाव नहीं है, यह उसकी उपलब्धि से ही सिद्ध होता है। विज्ञानवादियों के मत में बिज्ञान ही अवभासन शक्ति रुप से प्रमाण होता है और कल्पित वस्तुरुप से प्रमेय होता है। इससे सब व्यवहार सिद्ध होता है क्योंकि बाह्य अर्थ के रहने पर भी उन्हें बुद्धि में आरुढ़ हुए बिना प्रमाणादि का व्यवहार नहीं होता। अर्थात् बुद्धि में आरुढ़ ही बाह्यार्थ प्रमेय होता है तथा उसके अधीन प्रमाणादि का व्यवहार होता है। शंकराचार्य का कहना है कि विज्ञान और वस्तुओं में तादत्म्य संबंधन होकर कार्य कारण का सम्बन्ध पाया जाता है। बिना वाह्य वस्तुओं के विज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करता है तो यह ठीक नहीं है क्योकि इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी अत: बाह्य वस्तुओं का अभाव नहीं है।

बाह्य अर्थ का अभाव कहने वाले विज्ञानवादी यदि यह कहते हैं कि स्वप्नादि ज्ञान के समान जाग्रत काल के स्तम्भादि ज्ञानरुपता की अविशेषता से बाह्याथ के ज्ञान ही सिद्ध होंगे तो इसका उत्तर है कि स्वप्नादि ज्ञान के समान जाग्रत के ज्ञान नहीं हो सकते क्योंकि दोनों में वैंधार्म्य है। स्वप्न प्रत्यय वाधित होता है और जाग्रत प्रत्ययवा-धित नहीं होता। यदि ऐसा न माना जाय तो स्वप्न प्रत्यय में मिथ्यात्व निश्चित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त स्वप्न की वस्तुएँ व्यक्तिगत हैं पर जागृत की वस्तुएँ सार्वजनिक। स्वप्न की वस्तुएँ सस्कार या स्मृतिरुप हैं और जाग्रत की वस्तुएँ साक्षात् प्रत्यक्ष हैं। अत. दोनों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि को अस्वीकार किया जाय तो तज्जन्य वासना की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। अन्वय-व्यतिरेक विधि भी बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। वासनाएँ संस्कार विशेष हैं और संस्कार आश्रय के बिना नहीं, हो सकते। किन्तु बौद्ध मत में यह दोष है कि वहाँ वासना का कोई आश्रय नहीं है। विज्ञानवादियों का आलय विज्ञान नाम वाला आत्मारुप भी वासनाओं का

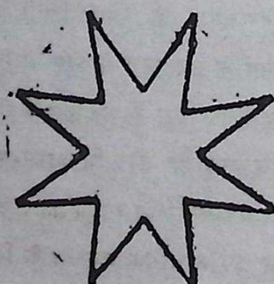
आश्रय होने में असमर्थ है क्योंकि उसे भी क्षणिक कहा गया है। इस प्रकार अनेक साम्यों के होते हुए भी अद्वैत वेदान्त बौद्ध दर्शन से भिन्न है।

भ्रम को लेकर भी बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्तियो में पर्याप्त मतभेद है। बौद्ध सम्प्रदाय का माध्यमिक वर्ग संसार की वस्तुओं को असत् या शून्य मानता है। माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्य का वास्तविक तात्पर्य जगत् की स्वभावशून्यता व तत्व की प्रपञ्च-शून्यता से है, किन्तु यहाँ पर शंकराचार्य का कहना है कि भ्रम बन्ध्यापुत्र की तरह बिल्कुल असत् नहीं होता, अपितु रज्जु-सर्प की तरह हमारे ज्ञान का विषय होता है अतः भ्रम की प्रतीति होती है। यदि भ्रम बन्ध्यापुत्र की भाँति असत् या शून्य होता तो वह हमारी अनुभूति का विषय नहीं होता। इसी प्रकार यदि शून्यवादी यह कहें कि प्रतीति काल में भी भ्रम असत ही होता है जैसा कि रज्जु-सर्प की प्रतीति में रज्जु में सर्प न तो भूत काल में था न वर्तमान में न भविष्य में ही रहेगा तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उपर्युक्त प्रश्न भाव और सत्ता के भेद को न समझने के कारण ही उत्पन्न हुआ है। रज्जु-सर्प या भ्रम तात्विक नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह भावात्मक भी नहीं है। भावात्मक होने के कारण वह बन्ध्यापुत्र के समान पूर्णतया असत् नहीं है।

इसी प्रकार योगाचार मत में आत्मख्याति पर विश्वास किया जाता है। इस मत के अनुसार आन्तरिक मानसिक संसार ही स्वप्न जगत् के समान बाह्य वस्तुओं के रुप में दिखाई पड़ते हैं अतः भ्रम के विषय में विषय निष्ठता या सत्ता भले ही न हो भावात्मकता तो पायी ही जाती है। यहाँ पर शंकराचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर भी दोष मुक्त नहीं होता क्योंकि भ्रम केवल संस्कार रुप ही नहीं होता अपितु बाह्य जगत् में उसका एक अस्तित्व भी होता है। यदि भ्रम सुख और दुःख के समान मानसिक अवस्था रुप ही हो तो उसके निराकरण के लिए किसी बाह्य बस्तु के प्रत्यक्ष की आवश्यकता ही न पड़े। रज्जु-सर्प के उदाहरण में भ्रम के लिए रज्जु के प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है। दूसरी बात यह है कि भ्रम में जब हम कहते हैं कि यह सर्प है तो इसका मतलब होता है कि यहाँ सत्यरुप यह और मिथ्यारुप-सर्प के बीच तादात्म्य संबध बनता है। भ्रम के निवारण होने पर तादात्म्य संबंध का विच्छेद हो जाता है। किन्तु इसके परिणाम स्वरुप वह मिथ्या सर्प मानसिक अवस्था के किसी रुप में किसी मन या आस्था के संयुक्त नहीं हो जाता। यदि आत्मख्याति वाद को मानते हैं तो ऐसा होना

चाहिए था । व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिए आत्मख्यातिवाद का भ्रम निरुपण का सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है ।

यद्यपि बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही दर्शनों में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलता है फिर भी इतना तो निर्विवाद मानना पड़ता है कि बौद्ध दर्शन ने अद्वैत वेदान्त के लिए एक पृष्ठभूमि दी है । संसार मिथ्या हैं, यह सिद्धान्त सर्वप्रथम बौद्धों ने ही घोषित किया । भ्रम का सिद्धान्त भी बौद्धों ने दिया है । यद्यपि अद्वैत वेदान्तियों ने इसको इसी रुप में स्वीकार नहीं किया है प्रत्युत उसका संस्कार करके स्वीकार किया है किन्तु मूलरुप में रज्जु-सर्प का उदाहरण बौद्धों की ही सूझ है । दोनों में प्रमाण साम्य भी है । शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण को दोनों ही मत समान रुप से मान्यता देते हैं । बुद्ध के पञ्चशील के सिद्धान्त समान रुप से अद्वैत वेदान्त में यम, नियम के अन्तर्गत समाविष्ट देखे जाते हैं । इसी तरह संसार दुःखमय है एवं दुःख के निराकरण से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है यह सिद्धान्तभी अद्वैत वेदान्त में उसी प्रकार मान्य है । अन्तर यही है कि अद्वैत वेदान्ती इसे निर्वाण न कहकर मुक्ति या मोक्ष कहते है । निर्वाण की प्राप्ति समाधि से होती है । समाधिके अनन्तर प्रज्ञा उदित होती है और व्यक्ति मुक्त हो जाता है । अद्वैत वेदान्तियों की भांति बौद्ध भी (महायान शाखा) दो प्रकार की मुक्ति या निर्वाण को मानता है । अद्वैत वेदान्त में भी जीवन मुक्त और विदेहमुक्त का प्रचलन है तथा बौद्ध धर्म भी इसे मानता है । दोनों दर्शनों की मूल भीत्ति उपनिषद् ही हैं । अतः प्रत्यक्षतः देखने में अद्वैत वेदान्त बौद्ध दर्शन का विरोधी भले ही प्रतीत हो परन्तु तत्वतः बौद्ध दर्शन के योगदान को अद्वैत वेदान्त अस्वीकार नहीं कर सकता ।



उपसंहार

अध्यात्म और आधुनिक समाज

दर्शन-शास्त्र कहने मात्र से ही लोगों की सामान्य धारणा यह बनती है कि जिसमें आत्मा एवं जगत् प्रपञ्च का वर्णन हो वह शास्त्र। कारण आदि काल से ही मनुष्य की जिज्ञासा रही है कि जिस जगत् में हम रहते हैं वह क्या है? और उस जगत् के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? मनुष्य की उत्पत्ति, उसकी समस्या यें, ब्रह्मांड, प्रकृति, प्रकृति के रुप का ज्ञान, विचार, जीवन, कला, चिन्तन और अस्तित्व के मध्य मूलभूत सम्बन्धों की समस्यायें, मष्तिष्क और पदार्थ के बीच संबंध क बोध करने वाला शास्त्र दर्शन ही है। दर्शन इस प्रश्न का उत्तर ढूँढता है कि इस ब्रह्मांड का निर्माण किसने किया अथवा यह अनादि एवं शाश्वत है? सबसे पहले उत्पत्ति किसकी हुई? पदार्थ की या आत्मा का? अस्तित्व का या विचार का? क्या इस जगत् का वास्तविक ज्ञान सम्भव है। इस जगत् का अस्तित्व हमारे चिन्तन में ही है या इसके परे भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है? भारतीय दर्शन का प्रादुर्भाव इन्हीं जिज्ञासाओं के फलस्वरुप हुआ है। इसी लिए ब्रह्मसूत्र में प्रथम ही 'अथातो ब्रह्म जिज्ञास' कहा गया है। यह ब्रह्म कौन है? तथा इसकी जिज्ञासा क्यों की जाये? करना उचित है या नहीं? आदि प्रश्नों का उत्तर आचार्य शंकर ने अपने जिज्ञासाधिकरण भाष्य में दिया है जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। इसी प्रकार बौद्ध मत भी सर्वप्रथम इस जगत् का ही चिन्तन करता है। यह जगत् सब दुःख है। सर्व दुःखं दुःखं कहते हुए बौद्ध संसार का परिचय देता है।

प्राचीन भारत के तपोनिष्ठ मनीषियों ने अपनी प्रज्ञा के बल पर जगत् के अनेक परिवर्तनशील रुपात्मक पदार्थों के अन्तः में विराजमान एकता को पहचान और उसे शरीर के भीतर विद्यमान माना तथ उसे ही जगत् का नियामक और शरीर का नियामक माना। शरीर के नियन्ता रुप में वह आत्मा है और जगत् नियान्ता रुप में वही परमात्मा है इसलिए भारतीय दर्शनों में लक्ष्य रुप से "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" कहा

गया है । मोक्ष का स्वरुप भी आत्मन. स्वरुपेंणावस्थिति मोक्ष. के रुप में व्यक्त किया गया है । इस प्रकार आत्म तत्व ही विवेच्य है । इसी को गुरुमुख से श्रवण करना तार्किक युक्तियों से मनन करना और यम, नियमादि योग प्रतिपादित उपायों के द्वारा निदिध्यासन करना चाहिए । स एव अध्येतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितब्य: का यही रहस्य है ।

भारतीत दर्शनों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह मानव जीवन को ऐहिक चिन्ता से निर्मुक्त करके पारमार्थित चिन्तन की ओर अग्रस॰ करता है । व्यावहारिक जीवन की समस्याओं को गौड़ बतलाते हुए जगत् के महत्वपूर्ण तत्वों की छानबीन करना, यथार्थ रुप से विचार करना ही प्रधान विषय माना गया है । भगवान श्री कृष्ण ने गीता में अपनी दिब्य विभूतियों के वर्णन के अवसर पर अध्यात्म विद्या को अपना ही स्वरुप बतलाकर उसकी महत्ता प्रदर्शित की है । कौटिव्य अपने अर्थशास्त्र में आन्विक्षिकी विद्या को ही सब विद्याओं का दीपक कहता है । इस प्रकार भारतवर्ष में दर्शन की जो लोकप्रियता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । पाश्चात्य देशों में दर्शन विद्वज्जनों के कौतूहल की शांति एवं मनोविनोद का साधन मात्र है जबकि भारतवर्ष में दर्शन धर्म के साथ एवं भारतीय जीवन के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है । त्रिविध ताप से सन्तप्त जनता की शांति के लिए तथा क्लेशमय संसार से आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति के लिए ही दर्शन शास्त्र का अविर्भाव हुआ है । भारतीय धर्मों की दृढ़ प्रतिष्ठा दर्शन शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के उपर निर्भर हैं । कारण कि धर्म की भाँति दर्शन की भी परम्परा भारत में वैदिक युग से ही अविच्छिन्न रुप से चली आ रही है । भारतीय दर्शन की धारा उस पुण्य सलिला गंगा के समान है जो अनेक छोटे नदी नालों तथा विशालकाय नदियों के जल से परिपुष्ट होती हुई शुष्क स्थानों को जलाप्लावित करती हुई क्षेत्रों को सस्य सम्पन्न बनाती हुई अपने निश्चित गन्तव्य स्थान की ओर समभाव से सदैव वहती चली जाती है । इस दीर्घ काल के जीवन में सभ्यताभिमानी जातियों तथा धर्माभिमानी पुरुषों के साथ दर्शन का सम्पर्क हुआ लेकिन वह भारतीय विचारों को इन प्रभावों से अछूता रखा । कारण कि इसकी विशालता एवं विशुद्धता के प्रभाव के आगे कोई टिक नहीं सका । इसके विपरीत अन्य भारतेतर विचारों पर भारतीय दर्शन ने ही अपना सिक्का जमाया । प्राचीन यूनान के विचारक पाइथागोरस के रेखागणित धर्म

तथा दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विशेषत: पुनजन्म अहिंसा आदि के उपर भारतीय दर्शन के प्रभाव पड़ने की घटना इतिहास के साक्ष्य पर प्रामाणिक मानी जाती है। सूफी लोगों के ऊपर वेदान्त तथा तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट रुप से पड़ा था। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कराकर अपने धर्मावलम्बियों में फैलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इन्हीं फारसी अनुवादों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया जिससे पहले पहल भारतीय विचार धारा से योरोपीय दार्शनिक परिचित हुए। प्रसिद्ध दार्शनिक सोपेनहावर भारतीय उपनिषदों के सूक्ष्म एवं उन्नत विचारधारा पर इतने रिझ गये थे कि उन्होंने उपनिषद् को अपने जीवन में सन्तोष देनेवाला अभिन्न अंग माना।

वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी को दिये गये उपदेश दर्शन के क्षेत्र में अपना एक विशेष महत्व रखते हैं। ऐसी कथा है कि वृद्धावस्था आने पर याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी समस्त सम्पत्ति को अपनी दोनों पत्नियों कात्यायनी और मैत्रेयी को बाँट दिया और स्वयं सन्यास लेने की ईच्छा प्रकट की। उस समय विदुषी मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से अस्थिर लौकिक सम्पत्ति ग्रहण करने में अपनी अनास्था प्रकट की। उसने कहा कि यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे लिए धन से पूर्ण हो जाय तो क्या उससे मुझे पूर्ण सुख मिलेगा अथवा मैं अमर हो जाऊँगी ? याज्ञवल्क्य ने कहा बिल्कुल नहीं। तुम्हारा जीवन उस आदमी के जीवन के समान होगा जिसे आनन्द की समग्र सामग्रियाँ प्राप्त हैं परन्तु केवल धन मात्र से अमरत्व पाने की तनिक भी आशा नहीं है। इस पर मैत्रेयी ने कहा कि जिस धन से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती उसको मैं लेकर क्या करुँगी ? मुझे तो अमरत्व चाहिए। महर्षि ने उससे सम्पति से बढ़कर प्रियतर वस्तुओं का नाम पूछा। मैत्रेयी ने अनेक नाम गिनाये इसपर याज्ञवल्क्य ने कहा कि ये सब प्रियतर नहीं हो सकते। ये सब प्रिय आत्मा के लिए ही होते हैं इसलिए प्रिय वस्तु आत्मा ही हो सकती है अत: आत्मा का ही प्रत्यक्ष करना चाहिए। उसी का मनन करना चाहिए और उसी का योग द्वारा अभ्यास करना चाहिए।

यों तो दर्शन का प्रादुर्भाव उपनिषदों से कहा जाता हैं लेकिन उपनिषदों से भी पूर्व ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में दर्शन का रहस्य छिपा हुआ है। वहाँ सृष्टि के अदिकाल की मीमांसा करता हुआ ऋषि अद्वैत तत्व का भी निर्धारण करता है। उस समय केवल एक सत् था जो वायु के बिना भी अपनी साँस ले रहा था और उससे अतिरिक्त

और अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं--

न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि
न राञ्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥

(ऋ० वे० १०।१२९।२)

यह नितान्त उदात्त एकत्व धारणा ही भारतीय दर्शन का मूल है। इसी अभिन्नता तथा तात्विक एकता का पल्लवीकरण उपनिषदों में किया गया है। उपनिषदों का विवेच्य विषय सामान्य रुप से ब्रह्म, आत्मा और आत्मानन्द प्राप्ति है। ब्रह्म के विषय में उपनिषदों में अनेक विरोधी विचार धारायें स्थान-स्थान पर प्राप्त होती हैं, किन्तु उन्हें यथार्थ रुप से देखने पर पता चलता है कि ब्रह्म और आत्मा अभिन्न हैं। उपनिषदों में सविशेष और निर्विशेष, सगुण तथा निर्गुण रुप से ब्रह्म का वर्णन किया गया है। सविशेष भाव में ब्रह्म में गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती है। वह सर्वकर्मा, सर्वकामः सर्वगन्धः तथा सर्वरसः आदि शब्दों के द्वारा पुलिङ्ग में वर्णित किया जाता हैं और निर्विशेष ब्रह्म अस्थूल, अनणु, अह्रस्वं, अदीर्घम् आदि नपुंसक पदों के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। वास्तव में सगुण, निर्गुण, सोपाधि आदि शब्द एक ही ब्रह्म के निर्देशक हैं। वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रुप है। शंकराचार्य ने अपने शांकर भाष्य में ब्रह्म को उभयलिङ्गी बताया है। यथा—संति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्म विषय :। सर्वकर्माद्यः सविशेषलिङ्गाः अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेष लिङ्गाः(शांकर भाष्य, निर्णसागर प्रेस बम्बई)। वृहदारण्यक में उसे विज्ञान तथा अनन्तरुप कहा गया है। यह ब्रह्म ही जगत् को उत्पन्न करता है और धारण करता है तथा अन्त में लीन कर लेता है। इस प्रकार उपनिषदों में स्पष्टतया विचार के दो मार्ग लक्षित होते हैं। वे ज्ञान एवं कर्म पर आधारित हैं। ज्ञान एवं कर्म के आधार पर ही ब्रह्म का निरुपण सविशेष एवं निर्विशेष के रुप में किया गया है। ज्ञान के क्षेत्र में जो ब्रह्म निर्विशेष है, कर्म क्षेत्र में वही सविशेष बन जाता है इस प्रकार यह देखा जाता है कि भारतीय दर्शनों में ज्ञान एवं कर्म का समुच्चय संयोजन किया गया है।

पिछले अध्याय में अध्यात्म या अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध दर्शन का समन्वयात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय दोनों के साम्य एवं वैषम्य पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। दोनों में ही व्यवहारिक उद्देश्य के क्षेत्र में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों ही दर्शन जनता के आधि-व्याधि पूरित दैनिक जीवन से अलग हटकर किसी काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं करते, अपितु विपद्ग्रस्त प्राणियों को विपत्ति से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त करा देना ही उसका प्रधान लक्ष्य है। ये दोनों दर्शन पाश्चात्य दर्शनों की भाँति मानसिक कौतूहल को हटाना मात्र ही नहीं अपितु एक ऐसा जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देना जो राग द्वेष से असम्पृक्त होने के कारण नितान्त आदरणीय और स्पृहणीय हो, लक्ष्य है। दोनों ही दर्शन चिकित्सा शास्त्र की भाँति संसार के कष्ट के निवारण हेतु प्रवृत्त होते हैं। कुछ लोगों का आक्षेप है कि दर्शन व्यक्ति को पलायनवादी मनोवृत्ति प्रदान करता है और वह इस संसार को विरक्त होकर एक अलौकिक सत्ता एवं जगत् की खोज में निरन्तर लीन रहता है किन्तु भारतीय दर्शनों में यह बात नहीं पायी जाती है। कोई भी भारतीय दर्शन जगत से पलायन की प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं देता। वह एक आशावादी प्रवृत्ति का दर्शन हैं। भारतीय दार्शनिकों ने जगत् के मूल में व्यवस्था को स्वीकार किया है तथा इस व्यवस्था के मूल में कर्म एवं कर्म फल के सिद्धान्त को माना है। कर्म सिद्धान्त का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य है और इसमें यदृच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है। संसार का बन्धन अविद्या के कारण है और समस्त दुःख जन्म-मरणादि सब अविद्या जन्य हैं। इसके विनाश के लिए विद्या का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए कहा गया है कि ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। अर्थात ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है।

हमारा सारा कार्य कलाप इन्हीं ज्ञान और कर्म के सिद्धान्तों के आधार पर प्रवृत्त होता है। कर्मवाद हमें प्रेयमार्ग की ओर ले चलता है जब कि ज्ञान-मार्ग श्रेय मार्ग की ओर ले चलता है। प्रेयमार्ग में मनुष्य रमणीय विषयों की ओर आकृष्ट होकर संसार में प्रवृत्त होता है जबकि श्रेयमार्ग द्वारा परम् मंगल साधन करने के लिए विषयोन्मुखी इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों की ओर से बलात् खींचकर चित्तशुद्धि पूर्वक अन्तर्मुखी बनाता है और पूर्णज्ञान प्रदान कर परमानन्द की अनुभूति कराता है। इस प्रकार भारतीय दर्शनों के विभिन्न सम्प्रदाय समय समये पर भारतीय मौलिक

दृष्टिकोणों एवं तत्वों का विवेचन करते हुए सामाजिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने में अपना सहयोग प्रदान करते रहे हैं। उपनिषद् दर्शन के बाद बौद्ध दर्शन ने एक लम्बे समय तक भारतीय समाज एवं संस्कृति को अपनी विचारधारा से प्रभावित रखा, किन्तु कालान्तर में इसकी क्षमता अनेक कारणों से क्षीण होती गयी जिससे समाज का पथ प्रदर्शन करने के लिए एक नये जीवन दर्शन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। जगद्गुरुशंकराचार्य ने इस अभाव की पूर्ति अपने अद्वैत वेदान्त दर्शन से की। यह दर्शन कोई नया दर्शन नहीं अपितु आचार्य बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर ही आधारित दर्शन है। शंकराचार्य ने युगानुरुप समसामयिक समस्त सम्प्रदायों के भ्रान्त धारणाओं के निराकरण के साथ ब्रह्मसूत्र की एक नयी व्याख्या समाज के सम्मुख प्रस्तुत की जिसने भारतीय समाज को पुनः एक ठोस धरातल प्रदान किया जिसके वल पर भविष्य में होने वाले दार्शनिकों एवं समाज सुधारकों ने समाज का उद्धार किया। शंकराचार्य के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता समन्वयवादी प्रवृत्ति है। उन्होंने अपने दर्शन में ज्ञान एवं कर्म दोनों का समन्वय प्रस्तुत किया है। अद्वैत मत वास्तव में भारत के लिए कोई अपरिचित अथवा नूतन मत नहीं है, क्योंकि शंकर से पूर्व बौद्ध माध्यमिकों ने भी शून्याद्वैत एवं योगाचार्यों ने विज्ञानाद्वैत की स्थापना की थी। भर्तृहरि और मण्डन मिश्र का शब्दाद्वैत भी शंकर के अद्वैत मत से प्राचीन है। भर्तृहरि का सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्पदीय है जिसमें स्फोट रुप शब्द को ही अद्वैत की कल्पना के रुप में प्रस्तुत किया गया है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी इन चतुर्विधवाणी विभेद से परावाक् साक्षात् ब्रह्मरुपा है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम सम्पन्न होता है। मण्डन मिश्र भी अपनी ब्रह्म-सिद्धि में स्फोट को मानते थे। उनकी सम्मति में कर्मनिष्ठ गृहस्थ सन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का विशेष अधिकारी है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इन दोनों ही मतों का खण्डन किया है। कुछ लोग इसी आधार पर आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध भी कहते हैं परन्तु बौद्ध दर्शन तथा शांकर दर्शन के तारतम्य परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों का पार्थक्य दृढ़ आधारों पर आधारित है। अतः शंकर को अद्वैत कल्पना के लिए बौद्धों का ऋणी कहना नितान्त असंगत प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि बौद्ध दर्शन ने अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना एक महत्वपूर्ण योगदान किया है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि

आचार्य शंकर ने अपते सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए भगवती श्रुति का आश्रय तो लिया ही हैं, उन्हें पुष्ट करने के लिए तथा अन्य मतों के निराकरण के लिए आगमरहित तर्क से विपरीत वेद शास्त्रानुकुल तर्क का विशेष उपयोग किया है । इनका मार्ग नितान्त मनोरम है । वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते अपितु चित्शुद्धि के लिए निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं । इसलिए इनका मत साधारण जनता में लोकप्रिय हुआ । बौद्ध धर्म के पराभव के पश्चात् वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में आचार्य शंकर का महान योगदान रहा है । विश्व की पहेली को समझाने में अद्वैत वेदान्त विश्व के भीतर प्रत्येक जीव में, प्रत्येक प्राणी में विद्यमान ब्रह्म की सत्ता पर आग्रह दिखलाता है। जब सब जीव ब्रह्म ही हैं तो ईर्ष्या और द्वेष हिंसा आदि के लिए स्थान ही कहां रह जाता है । विषय सुख को तु छ सिद्ध करके आध्यात्मिक सुख को सच्चा एव चिरस्थायी सुख बताया गया है । प्रत्येक जीव में अनन्त शक्ति सम्पन्न होने की शिक्षा देकर उसे नर से नारायण बनने का उपदेश वेदान्त ही देता है । वेदान्त शिक्षा का चरम अवसान वसुधैव कुटुम्बकम में होता है। इस प्रकार आधुनिक युग में मानव समाज कल्याण के लिएवेदान्त शिक्षा ही एकमात्र मार्ग है, इससे किसी को वैमत्य नहीं । पाश्चात्य देश भी आज इसकी महत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर रहे हैं ।

प्रायः आज देखा जारहा है कि विश्व में सब ओर अव्यवस्था का सम्राज्य है । राजनीति जिसे कुटनीति या छलनीति कहा जाय का प्रभाव इतना अधिक हो गया है कि बिना उसके दबाव के आगे कोई काम ही नहीं हो रहा है। धर्म भी इसके आगे पंगु बन गया है । लोग आपस में लड़ कट रहे हैं, राजनीतिज्ञों के ईसारों पर नाच रहे हैं । ऐसी स्थिति में धार्मिक सांस्कृतिक एवं नैतिक सद्गुण निष्क्रिय सिद्ध हो रहे हैं । लोग बड़ी बड़ी क्रान्तियों की बातें करते हैं पर समस्याओं के समाधान में विफल रहते हैं । धर्म के लोग धर्म की नहीं अपने सम्प्रदाय की रक्षा पर बल देते है। मन्दिरों और मस्जिदों में बैठकर पूजा करने में ही अपनी इति कर्तव्यता मान लेते हैं। राजनीति भी आज के युग में सर्वप्रमुख भूमिका निभा रही है । आज के युग में महातमा गाँधी ने जिस तप, संयम एवं अहिंसा का पालन करके समाज को शुद्ध करने का पथ प्रशस्त किया उसका अनुसरण ही श्रेयस्कर है । अध्यातम मार्ग को समाज सेवा के साथ संयुक्त करकं ही वर्तमान विषम परीस्थितियों पर नियंत्रण किया जा सकता है । पर यह तभी

संभव होगा जब हम व्यावहारिक दार्शनिक बने । महात्मा गाँधी एक व्यावहारिक दार्शनिक थे । वे उन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार करते थे जिनका वह व्यवहार में उपयोग कर सकते थे । उनका पवित्र साधन से पवित्र साध्य की प्राप्ति का सिद्धान्त भारतीय परिवेश में पुर्णतया व्याप्त है । वे शुद्ध सत्य की प्राप्ति एक मात्र अहिंसा रुपी पवित्र साधन से मानते थे । इसलिए उन्होंने अहिंसा वृत्ति पर विशेष जोर दिया और विरोधी के प्रति प्रेमदृष्टि, बुराइयों का सक्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह और अहिंसा व्यवहार आदि ऐसे शस्त्र थे जिनके बल पर उन्हों ने ब्रिटिश हुकूमत को भारत से विदा लेने पर बाध्य कर दिया ।

साधन-साध्य सिद्धान्त की विवेचना करते हुए प्रो० राजा राम शास्त्री ने एक सेमिनार में कहा कि गाँधी जी का दर्शन उनके साध्य साधन सिद्धान्त में निहित है । यह सिद्धान्त उनकी राजनीतिक पद्धति में ही नहीं अपितु उनके आर्थिक, सामाजिक धार्मिक ओर वैयक्तिक सभी विचारों में अनुस्यूत है और इसी के कारण इनके सभी विचारों में एक व्यापकता और सार्वभौमिकता दिखाई देती हैं । दर्शन प्रकृत्या सार्वभौम होता है इसलिए गाँधी जी के विचारों का वही अंश उनका दर्शन माना जाएगा जिसका प्रयोग सर्वभौम हो और जो विशिष्ट परिस्थितियों से सीमित न होकर न केवल मानव जीवन में प्रत्युत प्राकृतिक नियमों में भी प्रयुक्त हो सके । साधन, साध्य की सिद्धि के लिए होता है किन्तु सर्वज्ञ न होने के कारण कोई मनुष्य किसी साधन से जिस साध्य की सिद्धि की कल्पना करता है वह सदा सिद्ध हो ही जाय ऐसा संभव नहीं होता । ऐसी स्थिति में साधक यह विचार करता है कि उसके साधन में कहीं कुछ कमी रह गयी है फलतः मनुष्य अपने साधनों का संशोधन भी करता रहता हैं । इस प्रकार कर्म करते हुए प्राप्त फलों या साध्यों के अनुभव से साधनों का परिष्कार होता है और साध्यों के अनुभव प्रत्यावर्तित होकर नए साधनों को उदभूत करता है । साधन और साध्य दोनों परस्परापेक्षी हैं । इसलिए गाँधी जी ने अपनी प्रतिभा से इतिहास का अध्ययन कर यह नतीजा निकला कि कोई भी युद्ध अन्तिम युद्ध नहीं हो सकता और न उसे स्थायी शान्ति की स्थापना हो सकती है । यदि शान्ति स्थापित करनी है तो शान्तिमय अर्थात् अहिंसात्मक साधनों से ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करना होगा । जो बात युद्ध के लिए सही है वही बात अत्याचारी अथवा शोषक व्यवस्था के लिए भी सही होनी चाहिए ।

यदि अपने विरोधी में द्वेष की प्रतिक्रिया उत्पन्न किए बिना न्याय प्राप्त किया जा सके तभी वह न्याय स्थायी होगा। इसी निष्कर्ष के अधीन गांधी जी ने असहयोग, सत्याग्रह प्रतिरोध आदि ऐसे साधनों का अविष्कार किया जिससे भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जमीन्दारी उन्मूलन, राज्यों का विलयन आदि आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तन प्रायः बिना हिंसा के ही सम्पन्न हो गए। सामाजिक ढ़ाँचे में भी परिवर्तन की बुनियाद पड चुकी है।

प्रत्येक साधन के पीछे मनुष्य का संचित अनुभव काम करता है जो स्वतः पूर्ण नहीं होता इसीलिए साधन भी अपूर्ण एवं साध्य भी अपूर्ण ही होते हैं। इस दृष्टि से यह कहना कि साधन अपने स्वरुप से साध्य को सीमित करता है एक दार्शनिक सिद्धान्त बन जाता है। उदाहरण के लिए ज्ञान के क्षेत्र में युक्लिड ने ज्यामिति का एक सिद्धान्त बनाया था कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग १८०° होता है। इस सिद्धान्त को उसने अनगिनत त्रिभुजों को देखकर ही बनाया होगा किन्तु आगे चलकर यह सिद्धान्त असिद्ध होगया। क्योंकि युक्लिड का सिद्धान्त केवल सीधे धरातल पर ही लागू होता है गोल बस्तु पर त्रिभुज के कोणों का योग १८०° से अधिक हो जाएगा। इससे युक्लिड का सिद्धान्त तो मिथ्या नहीं हुआ, हाँ उसकी एक सीमा अवश्य निर्धारित हो गयी। विज्ञान के क्षेत्र में भी यही देखते हैं। जगदीश चन्द्रवसू ने जब इस बात का अविष्कार किया कि वनस्पतियों में भी प्राणियों की भाँति चेतना होती है तो अन्य वैज्ञानिकों ने श्री वसु को प्रयोग द्वारा सिद्ध करने को कहा। एवं वैज्ञानिकों ने वनस्पतियों का स्पन्दन देखकर यह टिप्पणी की वनस्पतियों का स्पन्दन बिलकुल सर्वथा प्राणियों की ज्ञान-वाहिनी नाड़ियों से प्रवाहित्त होने वाली चेतना के समकक्ष नहीं है। अतः उसे स्पन्दन भले ही कहा जाय चेतना नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वैज्ञानिकों ने श्री वसु के प्रमाण को देखकर उनके प्रमेय के स्वरुप को सीमित कर दिया। अब प्रश्न होता है कि गाँधी जी ने साधनों को इतना महत्व क्यों दिया। इसका उत्तर यह है कि श्रीमद्भगवद् गीता में स्पष्ट ही कहा गया है कि कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन, अर्थात् जो साध्य है और वाञ्छित है वह अपने हाथ में नहीं है। इसलिए हमारा मुख्य कार्य अनुकूल साधनों का अविष्कार और विकास करना ही हो जाता है। फल तो तदनुकूल होंगे ही।

गाँधी जी ने अपने दर्शन में योग, ध्यान, समाधि और भक्ति से समन्वित कर्म योग को आत्म सिद्धि का सर्वोत्तम साधन माना है। उनकी धारणा थी कि तपस्या के लिए संसार का परित्याग आवश्यक नहीं है। मानव कल्याण में जीवन का समर्पण तथा समाज हित की पुष्टि और अभिवृद्धि के निमित्त यज्ञीय भावना से समाजोपयोगी व्यवसाय में सलग्नता ही तपस्या है। इनके द्वारा ही अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि सम्भव है। ईश्वर को सब प्राणियों में स्थित तथा सब प्राणियों का आत्मा जानकर सब प्राणियों में दान, मान, मित्रता और समदृष्टि द्वारा ईश्वर की अराधना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। वह कहते थे कि सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य है। वही जगत के नैतिक विधान का मूल तत्व है जिससे प्राणिमात्र का अधिक हित हो वही सत्य है। इसलिए उसे ही सर्वोत्तम ज्ञान और पवित्र व्रत कहते थे। वे चाहते थे कि सत्य ही हमारे जीवन का आधार हो और हम हर परिस्थिति में सत्य का दृढ़ता से पालन करे। यद्यपि सत्य सनातन है फिर भी परिवर्तनशील संसार में उसकी नई-नई अभिव्यक्ति होती रहती है। नई परिस्थितियों एवं अनुभवों की पृष्ठभूमि में सद्विवेक और अन्तःकरण द्वारा नये विचारों का सर्जन पुराने सिद्धान्तों की नयी व्याख्या उन्नत के लिए अनिवार्य है। इस तरह सत्य विकासशील है, विकास में ही जीवनोत्कर्ष और कल्याण है।

महात्मा गाँधी ने अद्वैत दर्शन को मानव प्रेम से अनुप्राणित तथा देश बन्धुत्व पर आश्रित राष्ट्रीयता से जोड़ दिया। वह देश बन्धुत्व तथा मानवमात्र के प्रति सद्भावना को अद्वैत की सिद्धि का आवश्यक साधन मानते थे। उनका कहना था कि जो व्यक्ति, सम्प्रदाय, भाषा या वंश के भेद के कारण अपने देशवासियों के साथ आत्मीयता का अनुभव नहीं कर सकता वह सारे विश्व में अद्वैत की सिद्धि किस प्रकार कर सकता है। वह चाहते थे कि देश स्वतंत्र हो और समृद्ध हो तथा समता और स्वतन्त्रता के आधार पर सारे विश्व के साथ सहयोग को प्रतिष्ठित करते हुए मानव मात्र की अभिवृद्धि में अपनी ईच्छा से अधिक से अधिक योगदान कर सके। वे विज्ञान की अभिवृद्धि मानव हित में चाहते थे किन्तु विज्ञान द्वारा उन यन्त्रों या बड़ी-बड़ी मशीनों के आविष्कार के विरोधी थे जिनके द्वारा शोषण एवं बेकारी में वृद्धि होती है। इस प्रकार गाँधी जी का अद्वैतवाद जीवन के अखण्डता के विश्वास से बँधा हुआ है।

वे जगत् के मिथ्यात्व के आधार पर नहीं प्रत्युत सत्य जगत् की अखण्डता के आधार पर विश्वास करते थे उनके अनुसार व्यक्ति जिन धर्मों से घिरा है उसके उच्छेद के बिना उसका मोक्ष असम्भव है। इस मोक्ष या सत्य की प्राप्ति के लिए अहिंसा वृत्ति को वे आवश्यक मानते थे। क्योंकि अहिंसा की पहली शर्त विवेक है। अहिंसाधारित विवेक शास्त्रवादी और बुद्धिवादी विवेक से अधिक व्यापक एवं स्पष्ट है। शास्त्रों द्वारा व्याख्यात ईश्वर की व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं है प्रत्युत अहिंसात्मक कर्माचरण से प्रसूत विवेक को ही ईश्वर की मान्यता देते हैं।

अन्त में भारतीय दर्शनों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव को देखते हुए यह कमी खटकती है, किन्तु इससे एक लाभ भी हुआ। भारतीय दर्शन में तत्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा और मानव मूल्यों का निर्धारण एक स्वतन्त्र क्षेत्र के रुप में चिन्तित है। इसने उत्तरोत्तर अपने शक्ति मूलक विचारों एवं चमत्कारों के कारण सत्य की खोज और भाव जगत् के विश्लेषण के आधार पर मानवीय श्रद्धा को श्रेष्ठ सम्मान दिया था। प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेंडरशल ने भी दार्शनिक क्षेत्र में विज्ञान की आवश्यकता को सहयोग मात्र तक ही स्वीकार किया है। विज्ञान ज्ञान की खोज में सहायक भलें ही हो, पर उससे भिन्न मानव मूलयों का क्षेत्र उसकी परिधि से बाहर है। शक्ति की खोज के रुप में विज्ञान को मानव मूल्यों के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। विज्ञांन के बढ़ते हुए कदम से चिन्तित होकर रसेल ने कहा कि एक नये नैतिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसमें प्रकृति की शक्तियों के अधीनता के स्थान पर मनुष्य में जो कुछ सर्वोत्तम है उस सम्मान की प्रतिष्ठा की जाय। इस सम्मान की रक्षा में जहाँ तक विज्ञान उपयोगी हो, उसका आश्रय ग्रहणीय है, जहाँ इस सम्मान का अभाव हैं वहाँ विज्ञान खतरनाक सिद्ध होता है। आधुनिक युग में भारतीय दर्शनों को भी उचित है कि अध्ययन की वैज्ञानिक दृष्टि को हम अंगीकार करें अन्यथा तत्व ज्ञान की व्यवहारिक परीक्षा ही नहीं हो पायेगी और नये तथ्यों की हम अपने दर्शन में नहीं जोड़ पायेगें।

सारांश यह है कि दर्शन शास्त्र की अध्ययन की परम्परा को सामान्य बुद्धिवाले मानव के हितों से जोड़कर उसका अध्ययन मानव कल्याण के सम्पादन में होना चाहिए। वह कल्याण सम्पादन चाहे मानव मूल्यों की तार्किक स्थापना से हो चाहे धर्म की आस्था

से या विज्ञान की मदद से। आज हम दर्शन की मदद के लिए या तो विज्ञान की तरफ आशा भरी निगाह से देख रहे हैं या फिर धर्म की ओर। विज्ञान ने आस्थाओं का निरास करके एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया है कि पश्चिम के दार्शनिक भी यह कहने लगे हैं कि यदि कोई नया ज्ञान हमें प्राप्त होता है जो हम अनुभव से प्रमाणित नहीं कर सकते तो वह ज्ञान शब्द-झंकार मात्र है। इसका कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार आस्था विहीन हम समाज को क्या अपना ही जीवन संकटों में डालकर भटका रहे हैं बकन का यह कहना है कि दर्शन शास्त्र का अल्प अध्ययन गहरी नास्तिकता की ओर ले जाता है जबकि गहन अध्ययन उसे धर्म की ओर ले जाता है। आज का विज्ञान सामान्यतः ऐसे व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत है जो केवल वैज्ञानिक रुचि से प्रेरित थे और जिनमें ज्ञान की रुचि ज्ञान के लिए ही थी। इसलिए अब दर्शन को दोनों प्रकार के अध्ययनों से मुक्त रखकर धार्मिक हठवादिता तथा नास्तिकतावाद और निराशा से अलग विवेकपूर्वक मानवहित, सत्य तथा जिज्ञासा का चिन्तन करते हुए अपना स्वतन्त्र स्थान बनाना है। अध्यात्म की उपयोगिता समाज में रहते हुए भी रागद्वेष शून्य होकर देहादि अनात्म वस्तुओं से पृथक आत्मस्वरुपानुसन्धान में ही है। इस लिए गीता में कहा गया है—

अध्यात्मविद्या विद्यानाम् वादः प्रवदतामहम् ।





मुद्रित : नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, गोला घाट, बक्सर।

